प्रगतिवाद : एक समीक्षा

[आधुनिक साहित्य की मार्क्सवादी धारा की निष्पक्ष विवेचना]

धर्मवीर भारती

साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रकाशक : साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण १९४९

मूल्य साढ़े तीन रुपये

मुद्रक : जगतनारायणलाल, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

स्वीट बिशन को

"मैं बिल्कुल तुम्हारी तरह नहीं सोचता, लेकिन तुम्हें क्या हक़ है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से हरफ़-ब-हरफ़ मेल नहीं खाता वह क्रान्ति के बाहर है? क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति की महान ध्वजा की छाँह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के सपनों में डूबे हुए हैं। वही सपना मेरी आत्मा में भी पल रहा है। लेकिन मैं उस आधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहाँ कम्यूनिस्ट और बोर्जुआ दोनों अपने-अपने ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं प्रतिभा के वातायन उन्मुक्त रखता हूँ। अगर मेरी साँस घुटती है तो मैं खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देने में पीछे नहीं हटूँगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे लेकिन आज़ाद मानव बन कर रहेंगे।"

रोमा रोलाँ

भूमिका

यों तो किसी भी साहित्य में विभिन्न विचारधाराओं और शैलियों का अस्तित्व इस बात का परिचायक है कि उस भाषा के साहित्यकार सजग और सक्रिय हैं और सत्य को विभिन्न पहलुओं से समझने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन जब कोई भी वाद या कोई भी विचारधारा साहित्य-सुलभ उदारता को छोड़कर तानाशाही का स्वर अख्तियार कर लेती है, उस वक्त गम्भीरता से विचार करने का समय होता है।

हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात हुए लगभग १२ वर्ष हुए। सन् ३६ में अ० भा० प्रगतिशील लेखक संघ कायम हुआ था। इस १३ वर्ष के दौरान में प्रगतिवाद कई अवस्थाओं से गुजरा। छायावाद के मुकाबिले में प्रगतिवाद को एक बहुत बड़ा लाभ यह था कि छायावाद को हिन्दी में पाठक बहुत मिले, मगर सहानुभूतिपूर्ण आलोचक नहीं मिल पाये। प्रगतिवाद को पाठक कम मिले, लेकिन आलोचकों ने पैदा होते ही उसे चक्रवर्ती शासक घोषित कर दिया। यह अच्छा नहीं हुआ। एक स्वस्थ और सन्तुलित आलोचना किसी भी साहित्यिक विचारधारा के विकास और परिपाक के लिए आवश्यक होती है। लेकिन अन्धी और नासमझ प्रशंसा और बिना शर्त समर्थन ने प्रगतिवाद को दृढ़ और सबल बनाने के बजाय जिद्दी और चिड़चिड़ा बना दिया। वह उस बच्चे की तरह रहा जो अपने परिवारवालों से स्नेह की कदर नहीं समझता और अपने परिवार की परिस्थितियों से सन्तुलन करना नहीं चाहता। उसमें एक तानाशाही

आ जाती है, जो आगे चलकर उसी को बर्बाद कर डालती है।

मानवता को प्यार करनेवाले एक ईमानदार कलाकार के नाते प्रगति मेरा ईमान है, मेरी कलम की जवानी है, लेकिन अपनी आत्मा में मैं जिस सत्य का साक्षात्कार करता हूँ उसे निर्भीकता से आगे रखना मेरा कर्तव्य है। जहाँ तक कम्यूनिस्ट प्रगतिवाद का सम्बन्ध है, उसके अन्दर जो कुछ भी संकीर्णताएँ हैं, जहाँ वह अपने में सिमटा हुआ, भारत की सांस्कृतिक परम्परा से दूर, मानव जीवन के विशाल कैनवस से अनजान, एक कट्टर राजनीतिक मजहब का रूप धारण कर लेता है, वहाँ एक ईमानदार साहित्यिक के नाते मैं उसके खिलाफ आवाज उठाने के लिए बाध्य हो जाता हूँ। एक सत्य के खोजी साहित्यिक के लिए मानवीय सत्य का महत्व किसी भी वाद से ज्यादा है, इसीलिए मुझे वाद का विरोध करना पड़ता है, प्रगति के समर्थन में आवाज उठानी पड़ती है; क्योंकि मैं देख रहा हूँ 'वाद' की जंजीरों ने 'प्रगति' के कदम जकड़ लिये हैं।

मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो प्रगति के नाम से ही घबराते हैं। मैं विश्वास करता हूँ कि मानवजाति सृष्टि के आरम्भ से आज तक परिस्थितियों से लड़ती रही है और अपने रक्त से, अपने आँसुओं से, अपने पसीने से, समय के पृष्ठों पर सत्य का इतिहास लिखती रही है। उसने हर युग में नये-नये प्रयोग किये हैं। लेकिन जब कभी हम प्रयोग को सत्य से अधिक महत्व देने लगते हैं, उसी वक्त हमारी प्रगति रुक जाती है। मार्क्सवाद भी मानव सभ्यता का एक बहुत बड़ा प्रयोग रहा है। लेकिन वह प्रयोग ही रहा, लाभदायक प्रयोग रहा, किन्तु समाधान नहीं बन पाया। मार्क्सवाद में कमियाँ थीं। रूस ने उन कमियों को ढूँढ़ निकाला और उनका परिहार करने की कोशिश की। लेकिन फिर भी रूस की संस्कृति उतनी वैभवशाली नहीं जितनी हमारी संस्कृति रही है, अतः अब भी रूसी साहित्य वह स्थायी और सशक्त जीवन दर्शन नहीं खोज पाया है जिसकी खोज का सौभाग्य

शायद भारतीय साहित्य को मिलनेवाला है, क्योंकि हमारे पास अग्नि-शिखा सा देदीप्यमान संदेश है और अब हम उसकी ज्योति विकीर्ण करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हम मार्क्स के शब्दों के अभिधार्थ को वेदवाक्य न समझ कर उसके जीवन सन्देश को समझें, रूसी साहित्य ने जो प्रयोग किये हैं उनका अध्ययन करें और देखें कि अब क्या कमी बच जाती है, और जो कमी बच जाती है क्या उसे हम भारतीय संस्कृति के सत्य-दान से पूरा कर सकते हैं या नहीं। साथ ही हम उन प्रयोगों में से भी सत्य के कण बटोरने प्रयास करें जो फ्रान्स, इंगलैण्ड, और जर्मनी के लेखकों की नवीनतम पीढ़ी द्वारा किए जा रहे हैं। साहित्यकार के सामने एक गम्भीर उत्तरदायित्व रहता है। मेरा नम्र-निवेदन है कि भारतीय प्रगतिवादी लेखकों ने इस उत्तरदायित्व की गुरुता का अनुभव नहीं किया है। उन्होंने उस व्यापक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को समझने में उतना उत्साह नहीं दिखाया। उन्होंने साहित्य को एक गम्भीर साधना नहीं समझा। साहित्य की स्थायी सफलता साधना से आती है, प्रचार से नहीं।

मैं प्रगतिवाद के उन निन्दकों का विरोधी हूँ जो मार्क्सवाद के व्यापक सन्देश को समझे बिना, रूसी साहित्य का अध्ययन किये बिना, प्रगतिवाद के खिलाफ गुहार मचाते हैं। मैं प्रगतिवाद के उन समर्थकों का भी विरोधी हूँ जो भारतीय परिस्थितियों, भारतीय परम्पराओं, और भारतीय साहित्य की आत्मा को पहचाने बिना अपने पूर्व निर्धारित सिद्धान्त साहित्य पर लादना चाहते हैं। ऐसे समर्थक न केवल प्रगति-वाद का नुक्सान करते हैं वरन् हिन्दी के मार्ग में भी खतरे बिछा देते हैं।

लेकिन भारत के प्रगतिवादियों के दोषों के कारण हमको रूसी प्रगतिवादियों का मूल्य कम न करना चाहिये। उन्होंने सचमुच अपने सच्चे राष्ट्रीय (कट्टर राष्ट्रीय) साहित्य का निर्माण किया है। लेकिन रूस

और मार्क्सवाद का महत्व स्वीकार करते हुए भी मैं उन्हें केवल अनेकों में से एक प्रयोग मात्र मानता हूँ और मैं चाहता हूँ कि भारतीय प्रगतिवादी उसका अन्धानुकरण न करें वरन् अपनी सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप सर्वथा नया और मौलिक साहित्य दें। आलोचकों और लेखकों, दोनों से मेरा निवेदन है कि वे मार्क्सवाद के विरोध या समर्थन को ही अपनी साहित्य सर्जना का लक्ष्य न मान कर मार्क्सवाद को भी मानव की पृष्ठभूमि समझने का प्रयास करें। जैसा गोर्की ने कहा है कि "मानव हमारा देवता है। मानव से बड़ा कोई सत्य नहीं!"

जहाँ तक मेरी इस आलोचना का प्रश्न है, मैं यह चाहूँगा कि मुझे गलत न समझा जाय। किसी भी हालत में मैं प्रतिक्रियावाद का समर्थन नहीं कर सकता। यह मेरी कलम के स्वाभिमान के खिलाफ होगा कि वह किसी भी रूप में पूँजीवादियों के सांस्कृतिक मोर्चे पर उपयोग में लाई जाय। मेरी इस आलोचना के पीछे प्रगतिवाद के लिए एक सच्ची स्नेह भावना और ईमानदार सुझाव है। मैं चाहता हूँ कि हिन्दी साहित्य वर्तमान गतिरोध, सड़ी हुई गतानुगतिकता से साहसपूर्वक निकल कर उस दिशा में शान से बढ़े जहाँ मानवता की मुक्ति के लिए, मानवता के कल्याण के लिए मंगल-यज्ञ हो रहा है।

प्रगतिवाद के पक्ष और विपक्ष, दोनों की आलोचनाओं में जिस 'तू-तू-मैं-मैं' और 'गाली-गलौज' की भरमार रहती है उसे मैं साहित्यिक दीवालिएपन का लक्षण मानता हूँ। अच्छा हो कि हम लोग तर्क और विवेचना को अपनी आलोचनाओं में अधिक स्थान देने का प्रयास करें। इन निबन्धों में उठाए गए प्रश्नों पर भी अगर गम्भीरता से विचार विनिमय हुआ तो मेरा विश्वास है कि इस पीढ़ी के लेखकों के मन में उठनेवाली उलझनों का बहुत कुछ समाधान ढूँढ़ा जा सकेगा।

पुस्तक की रूपरेखा और अधिकांश निबन्ध लगभग दस महीने पहले लिखे गए थे, लेकिन मैंने इधर की सूचनाओं के आधार पर मिली हुई चीजें भी उनमें जहाँ-तहाँ जोड़ दी हैं।

आज की संक्रान्ति-कालीन अनिश्चित परिस्थितियों में एक उपयुक्त जीवन-दर्शन और दृढ़ विश्वास के अभाव में भटकनेवाले किसी भी तरुण लेखक को यदि इससे प्रकाश के दो कण भी मिल सके तो मैं अपने श्रम को सफल समझूँगा।

गुरुपूर्णिमा
१० जून, ४६

धर्मवीर भारती

विषय-प्रवेश

व्यापक अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस विशेष दिशा को कहेंगे जिसमें चल कर साहित्य मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहयोग देता है; रूढ़ अर्थों में प्रगतिवाद साहित्य की उस दिशा विशेष को कहते हैं, जो मार्क्सवादी जीवन दर्शन के अनुसार साहित्य के लिए निर्देशित की गई है।

मार्क्सवादी जीवन दर्शन समाज और सभ्यता को सतत परिवर्तनशील मानता है। उसके अनुसार आर्थिक उत्पादन ही समाज व्यवस्था के ढाँचे के मूल से रहता है। आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत सदा दो वर्ग रहे हैं, जिनमें निरन्तर संघर्ष होता रहा है, एक वर्ग दूसरे वर्ग को पराजित कर अपनी व्यवस्था समाज पर आरोपित करता रहा है और इस प्रकार समाज की प्रगति होती रही है। इस वर्ग-संघर्ष की चरम परिणति पूँजीवादी (बोर्जुआ) और सर्वहारा (प्रोलेतेरियत) वर्ग के संघर्ष में है। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था शोषण और विषमता की नींव पर खड़ी है, अतः वह दिनोदिन खोखली और कमजोर होती जाती है, उसके कदम लड़खड़ाने लगते हैं, और धीरे-धीरे सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी वर्ग से सत्ता छीनकर अपना शासन स्थापित कर लेगा। सांस्कृतिक पक्ष में भी पूँजीवाद का खोखलापन छिपा नहीं रह पाता है, पूँजीवाद मानव सम्बन्धों और मानवीय आदर्शों का मूल्य चन्द चाँदी के सिक्कों पर आँकने लगता है, जिसके कारण मानवीय जीवन का सहज सौन्दर्य विकृत और कुरूप हो जाता है। संस्कृति में एक घुटन, एक बँधाव, एक गन्दी सड़ायन्ध

आने लगती है जिसके जहरीले प्रभाव से साहित्य भी नहीं बच पाता। ऐसी अवस्था में साहित्यिक के सामने एक ही रास्ता बच जाता है: वह पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ़ अपनी आवाज बुलन्द करे, नई आनेवाली जिन्दगी के कदमों को सहारा दे, सर्वहारा वर्ग के युद्ध के विजय गीत गए और उस भविष्य को समीप लाने में सहायता दे, जिस भविष्य का स्वामी होगा महान सर्वहारा वर्ग, जो अभी तक प्रवंचना और शोषण की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ था। प्रगतिवादी साहित्यिक सर्वहारा वर्ग के युद्ध में कलम का मोर्चा सम्हाले, और अपने हृदय के रक्त से उन अनजान शहीदों के गीत लिखे जिनके लाल जवान खून से कोलतार की सड़कों, या कालकोठरियों के फर्शों पर नई जिन्दगी का इतिहास लिखा जा रहा है।

वर्ग संघर्ष आर्थिक ढाँचे की मूल भित्ति है, समाज-व्यवस्था की मूल भित्ति है, शासन सत्ता की मूल भित्ति है, संस्कृति की मूल भित्ति है और इसीलिए साहित्य की भी मूल भित्ति है। प्रत्येक कलाकार अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, कम से कम उस वर्ग का, जिससे सहानुभूति रहती है (सहानुभूति शब्द का विशेष महत्व है। सम्भव है एक लेखक आर्थिक रूप से सम्पन्न हो लेकिन उसकी सह + अनुभूति हो प्रोलेतेरियत; या वह हो निर्धन पर उसकी सह + अनुभूति हो बोर्जुआ।) इसलिए मार्क्सवादी कलाकार का कर्तव्य है कि वह जनता के साथ अपने को रक्खे, जनता की भावनाएँ, उमंगें, कल्पनाएँ और सपने कलाकार की भावनाएँ, उमंगे, कल्पनाएँ और सपने बनें। मार्क्सवाद के अनुसार वही कला महान होती है जिसमें जनता का महान आन्दोलन सीना उभारता हुआ नजर आए, जिसमें नई जिन्दगी अंगड़ाइयाँ ले रही हो, जिस पर नई मानवता के सपने अपने उजले पंख फैला कर छाँह किए हों। जो कलाकार जनता से अपने को अलग कर लेता है, वह अपनी वैयक्तिक विकृतियों में उलझ कर या तो पतनोन्मुख साहित्य का सृजन करता है, या अपने वर्ग-स्वार्थ में

अन्धा होकर प्रतिक्रियावादी और पलायनवादी साहित्य का !

इसी सिलसिले में हमें प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और पतनोन्मुख शब्दों के पारिभाषिक अर्थ भी समझ लेना चाहिए। प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति उसे कहते हैं जिसमें कलाकार रूढ़ियों तथा प्राचीनता के प्रति विशेष रूप से आसक्त रहता है और उनके प्रति एक अस्वस्थ मोह के कारण वह किसी भी नए आन्दोलन या नई चिन्तना को शंका और भय की दृष्टि से देखता है। वह परिवर्तन और प्रगति को सत्य की ओर उठा हुआ एक नया कदम न मान कर, उन्हें ह्रास और विनाश का संकेत मानता है, वह दुनिया को यथावत् बनाए रखना चाहता है और उसकी मार्क्सवादी व्याख्या यह है कि वह न पूँजीवादी व्यवस्था को बदलना चाहता है और न उसके आधार पर कायम होने वाली विकृत समाज व्यवस्था को। वह समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट रहता है पर समाज में परिवर्तन चाहनेवालों से इस प्रकार वह सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध लड़ता है और पूँजीवादी वर्ग के कदम मजबूत करता है।

पलायनवादी प्रवृत्ति इससे जरा भिन्न है। जहाँ प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है नवीन के प्रति विरोध से, वहाँ पलायनवादी प्रवृत्ति का आरम्भ बिन्दु है वर्तमान के प्रति विरोध। वह वर्तमान समाज-व्यवस्था से असन्तुष्ट रहता है, लेकिन मानवता की इन व्याधियों का समाधान वह आगे आनेवाली सर्वहारा क्रान्ति और उसके बाद स्थापित किये जानेवाले वर्गहीन समाज में न मानकर, वह अपनी कल्पना को और भी प्राचीन युग में ले जाता है और वहीं अपने स्वप्नों का नीड़ खोज निकालता है। उसके स्वर में आरम्भ में तो वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह तो रहता है, किन्तु उसकी परिणति होती है, प्राचीन काल के ख़ुमार भरे रोमानी सपनों में अलसा कर खो जाने में !

पतनोन्मुख प्रवृत्ति इन दोनों से भिन्न है। पतनोन्मुख प्रवृत्ति में भी कलाकार अपनी परिस्थितियों से विद्रोह करता है, किन्तु वह अपनी

कला में किसी अन्य सत्य की प्रतिष्ठा को समाधान न मानकर अपने व्यक्ति की रुचि कुरुचि, कृति विकृति और उसकी दमित प्रवृत्तियों के उच्छृंखल प्रदर्शन को ही कला का चरम लक्ष्य मान लेता है। कला के सामने, मानव जाति के सामने आ खड़े होनेवाले महान सांस्कृतिक संकट का सामना करने और एक नई, स्वस्थतर और सुन्दरतर दिशा खोज निकालने का कोई प्रयत्न नहीं होता। कला सामाजिक सम्बन्धों को बिल्कुल तोड़ देती है, वह केवल कलाकार, निराश और दमित कलाकार के अस्वस्थ व्यक्तित्व में ही सीमित होकर रह जाती है और कलाकार उसे अपनी उछृंखल विकृतियों की मानसिक सन्तुष्टि का साधन बना लेता है। पतनोन्मुख कला का सुख और सन्तोष कुछ कुछ उस व्यक्ति के सुख और सन्तोष की तरह है, जो खाज में खुजलाता है, यहाँ तक कि खून निकल आता है मगर उसे खुजलाए बिना चैन ही नहीं पड़ता। किसी भी प्रगतिविरोधी साहित्य में ये तीनों प्रवृत्तियाँ विभिन्न अनुपात में पाई जा सकती हैं।

आज से ठीक १०१ वर्ष पहले, १८४८ में जब महान् दार्शनिक कार्ल मार्क्स ने पहली बार 'कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो' प्रकाशित किया, उस समय यूरोपीय साहित्य से रोमाण्टिक युग की समाप्ति हो चुकी थी और जिस तरह भक्तिकाल के राधा और कृष्ण के पवित्रतम प्रतीक के आधार पर रीतिकाल के कवियों ने भरपूर मानसिक ऐय्याशी की थी, उसी तरह रोमाण्टिक काल के व्यक्ति-विद्रोह के आधार पर प्रतिक्रियावादी, पलायनवादी और पतनोन्मुख साहित्य का पोषण हो रहा था। रूसो से आरम्भ होकर जिस महान् रोमाण्टिक परम्परा का परिपाक शेले और बायरन में हुआ था, जिसने अपने युग को विद्रोह की दीक्षा दी थी, जो अपने समय का सबसे अधिक क्रान्तिमुखी जीवन दर्शन था, उसका स्वर धीरे धीरे मन्द पड़ रहा था और साहित्य में अपेक्षाकृत विकृत प्रवृत्तियाँ धीरे धीरे प्रवेश पाती जा रही थीं। मूलतः रोमाण्टिक आन्दोलन जिसने यान्त्रिकता के विरुद्ध

व्यक्ति स्वाधीनता का नारा बुलन्द किया था, वह एक प्रगतिशील और विद्रोह जीवन दर्शन था। स्वयम गोर्की के अपने एक लेख में रोमाण्टिसिज्म की विवेचना करते हुए लिखा था कि "रोमाण्टिसिज्म के दो स्वरूप होते हैं—रचनात्मक और पलायनवादी वादी। प्रारम्भिक या रचनात्मक रोमाण्टिसिज्म तत्कालीन प्रारम्भिक पूँजीवादी यान्त्रिकता के विरुद्ध एक विद्रोह था जिसको जनता का पूर्ण नैतिक समर्थन प्राप्त था।" (लाइफ एण्ड लिटरेचर) लेकिन आगे चल कर व्यक्ति के महत्व की बहुत गलत व्याख्या की गई और फल यह हुआ कि रोमाण्टिसिज्म का उत्तराधिकार मिला पतनोन्मुख (डिकैडेन्ट) साहित्य को जिसने कला की सारी व्यापक पृष्ठभूमि ही छीन ली और उसे केवल एक अस्वस्थ व्यक्ति की विकृतियों की पंकिल रेखाओं से आबद्ध कर दिया।

सन् १८४८ में ही उन पतनोन्मुख प्रवृत्तियों ने सर उठाना शुरू कर दिया जिनका परिपाक आगे चलकर वर्लें के निराशावाद, गाटियर या ल्फाबर्ट के 'कला कला के लिए' वाले उछृंखल व्यक्तिवाद में हुआ। ये पतनोन्मुख प्रवृत्ति उसी समय साहित्य से दृष्टिगोचर होने लगी थीं। थियोफाइल गाटियर ने 'कला कला के लिए', सिद्धान्त की स्थापना की जिसका सबसे पहला फल था उसका उपन्यास "मादम्वायजेल द मार्प" जिसमें उसने अप्राकृतिक यौन सम्बन्धों के प्रति विशेष अस्वस्थ आकर्षण दिखलाया था। लेकिन उसी समय साम्यवादी विचारकों का भी एक छोटा सा समूह था जो मानव संस्कृति को इस तरह जकड़ लेनेवाले संकट को गम्भीरता से समझने उसका विश्लेषण करने और उसका निराकरण ढूँढने का प्रयास कर रहा था। उस समूह में थे लुई ब्लांक, एंजेल्स प्राउढन और कार्ल मार्क्स! सारे पाश्चात्य जगत में छोटे मोटे आन्दोलन पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध उठ खड़े हुए थे। ये सारे आन्दोलन मुख्यतया मध्यम श्रेणी के द्वारा हो रहे थे और सभी का

लक्ष्य था साम्यवाद की स्थापना। किन्तु वह साम्यवाद क्या होगा, कैसे कायम किया जा सकेगा, यह किसी के सामने स्पष्ट नहीं था। प्राउढन ने लिखा था, "इन साम्यवादियों के सामने एक ही बात स्पष्ट थी—सामाजिक क्रान्ति। लेकिन उन्हें न उसका विधान मालूम था, न उसका रास्ता!"

साम्यवाद को एक वैज्ञानिक रूप दिया कार्ल मार्क्स ने! उसकी निगाह पैगम्बरों की निगाह थी। उसने बड़ी निर्ममता से पूँजीवादी व्यवस्था के खोखलेपन को उघाड़ दिया, उसके रेशे-रेशे बिखेर दिए और कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो में नई दुनिया का निर्माण करने के लिए प्रोलेटेरियत वर्ग को एक सशक्त आह्वान दिया। उसके आह्वान में नए जीवन का महान् सन्देश था। प्रसिद्ध जर्मन कवि हाइने ने लिखा था—"एक बार फिर क्रान्ति का निर्मम चक्र घूम रहा है; इस बार का विद्रोही अपने सभी पूर्वाधिकारियों से अधिक कठोर है। जहाँ कहीं भी नई जिन्दगी अँगड़ाइयाँ ले रही है वहाँ इस विद्रोही का आवास है!"

सभी महान् कलाकारों ने मार्क्सवादी आन्दोलन और साम्यवाद का स्वागत किया। उसमें उन्होंने मुक्ति की आशा देखी। पूँजीवाद के फौलादी पंजे में जकड़ी हुई कला ने सोचा कि साम्यवाद में उसे अपने पंख फैलाने की स्वतंत्रता मिल सकेगी। साम्यवाद में मानव आत्मा का अधिक स्वस्थ विकास हो सकेगा। विशेषतः रूस में जहाँ गोगोल, टाल्सटाय, चेखव और डास्टावस्की के यथार्थवाद ने मार्क्सवाद के लिए अच्छी पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी, मार्क्सवाद का स्वागत हुआ और गोर्की ने जनता के दुख दर्द उसकी लड़ाई और मानवीयता के चरम सत्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण मार्क्सवादी भाषा में किया।

लेकिन जैसा बाबा तुलसीदास बहुत पहले कह गये हैं—'राम ते अधिक राम कर दासा! मार्क्स के अनुयायियों ने प्रगतिवाद और

मार्क्सवाद के व्यापक उद्देश्य की अवहेलना कर साहित्य को अपनी दलगत राजनीति का अस्त्र बना लेना चाहा। मार्क्स का तात्पर्य था पूँजीवादी विकृतियों के प्रति विद्रोह और उसके स्थान पर एक स्वस्थ संस्कृति का निर्माण, मगर मार्क्स से भी सौगुना अधिक मार्क्सवादी, उसके अनुयायियों ने प्रगतिवाद को एक व्यापक जीवनदायी सिद्धान्त नहीं रहने दिया और उसे एक कट्टर कठमुल्लेपन में परिवर्तित कर दिया।

कुछ राजनीतिक तानाशाहों ने कहा कि साहित्यकार को जनता के लिए लिखना चाहिये। जनता का भला उसी नीति में है जो दल या उसके तानाशाह निर्धारित करते हैं। इसलिए कलाकार को राजनीतिक अनुशासन में ही रहना होगा।

जब यह अनुशासन का बन्धन आया तो स्पष्ट है कि महान् कलाकार जो अपनी आँखें बन्द करना और अपना दिमाग गिरवी रख देना अपनी कला का अपमान समझते हैं, आखिरकार प्रगतिवादी आन्दोलन से अलग हो गए। फ्रान्स में रोमा रोलाँ और रूस में स्वयं गोर्की को इस राजनीतिक तानाशाही का विरोध करना पड़ा।

लेकिन कुछ मानसिक गुलाम कलाकार तथा कुछ सस्ती यशलिप्सा वाले मध्यम श्रेणी के कलाकार इस आन्दोलन के साथ हो गए, जिनमें न तो इतना आत्मविश्वास था कि वे स्वयं अपना मार्ग ढूँढ़ निकालें, न इतनी निस्पृहता थी कि यश के लोभ में अपनी प्रतिभा को राजनीति के हाथ बेंच देने का लोभ संवरण कर सकें।

इसका परिणाम यह हुआ कि मार्क्सवादी (प्रगतिवादी) साहित्यिक विचारधारा में दिनोंदिन संकीर्णता, एकांगिता, खोखलापन और विकृतियाँ आती गईं और नतीजा यह है कि जिस प्रगतिवादी आन्दोलन में एक दिन यह गोर्की, रोलाँ तक सम्मिलित थे, जिसको

अर्न्स्ट टालर और रैल्फ फाक्स जैसे शहीदों ने अपने खून से सींचा था। आज स्टीफेन स्पेण्डर और आडेन की तो बात दूर मैलराक्स (Malraux) जैसे कट्टर कम्यूनिस्ट भी अपने को उसकी संकीर्णता से सन्तुलित नहीं कर पाते।

इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि अपने को प्रगतिवादी कहने वाले ये मार्क्सवादी कलाकार स्वयं नवीनतम सत्यों को ग्रहण करने में हिचकिचाते हैं, डरते हैं। सौ वर्ष पुराने मूल्यांकनों और रूढ़ियों से चिपके रहने में ही अपनी बचत समझते हैं। वे यह भूल गए कि कलाकार को तो हर दिन, हर क्षण मानवता के लिए असत्य और अज्ञान, पतन और अन्धकार के विरुद्ध लपलपाते हुए स्वर्णाक्षरों का सम्बल लेकर लड़ना पड़ता है। वह अपनी प्रतिभा के सहारे युग की व्याख्या, युग का विश्लेषण और भविष्य का निर्माण करता चलता है और उसकी चिन्तना किसी भी राजनीतिक तानाशाह से अधिक निस्पृह, उदार, व्यापक और समन्वयात्मक होती है। जीवन के युद्ध में विजेता वह होता है जो रोज युद्ध में जीतता है, जो १०० वर्ष पहले अपने पुरखों द्वारा अर्जित सम्पत्ति के बल पर ही अपने वैभव के डङ्के पीटता रहता है, वह बहुत जल्दी दीवालिया हो जाता है।

हिन्दोस्तान की कुछ ऐसी बदकिस्मती रही कि यहाँ प्रगतिवाद का प्रवेश तब हुआ जब विदेशों में उसका दिवाला निकल चुका था। विदेशों की इस उतरन को हमने बड़े चाव से दौड़ कर पहना, जब कि हमारे अपने साहित्य में किसी भी प्रगतिवाद से सौ गुना शक्तिशाली प्रवृत्तियाँ पनप रही थीं। निराला और पन्त, प्रसाद और प्रेमचन्द, रवीन्द्र और गांधी उस पतनोन्मुख संकीर्ण प्रगतिवाद से कहीं ज्यादा आगे थे जो भारत में इतने आदर से लाया गया।

लेकिन सबसे बड़ी मजाक यह थी कि शुरू में न प्रगतिवाद के समर्थकों ने ही उसे ठीक से समझा था और न उसके आलोचकों ने ही। समर्थकों ने उसी को प्रगतिवादी मानना शुरू किया जो अपने

को प्रगतिवादी घोषित कर दे, चाहे वह यौन उच्छृङ्खलता का साहित्य लिखता हो या भावुक राष्ट्रीयता का। आलोचकों ने जिस पर भी गुस्सा उतारना चाहा उसे ही प्रगतिवादी कहना शुरू किया। हिन्दी में प्रगतिवादी आन्दोलन का सूत्रपात बड़े प्रहसनात्मक ढंग से हुआ। उसके बाद लेखकों को फँसाने का आन्दोलन चला। कुछ बड़ी मछलियाँ भी फँसी। कुछ अवसरवादी, यश-पिपासु परम बूर्ज्वा लेखक भी इस महान जनान्दोलन में स्वर मिलाने लगे। एक राजनीतिक दल तो साथ था ही प्रचार करने के लिए। कुछ दिनों तक "परस्परम् प्रशसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः !" का सुन्दर हंगामा रहा। लेकिन अब उस तमाशे से साहित्य के गम्भीर साधकों का मन ऊब सा गया है। उसके बाद यहाँ के प्रगतिवाद ने कलाबाजियाँ खानी शुरू कीं। कभी इस प्रवृत्ति को अपनाया, कभी उसे बहिष्कृत किया, कभी इस लेखक को उठया, कभी उसे पलायनवादी सिद्ध करने में जुट गए; इसी प्रकार की चीजें चलती रहीं। स्वयं प्रगतिवादियों ने भी सिवा तीखी, अवसरवादी आलोचनाओं और दलबन्दी तथा गाली-गलौज के, अभी तक गम्भीरता और शान्ति से समस्याओं का विश्लेषण, उदारता, समझदारी और दूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया है। परिणाम यह हुआ है कि वे सचमुच ही हिन्दी की महान साहित्यिक परम्परा में जो कड़ी जोड़ सकते थे, उसके बिल्कुल अयोग्य सिद्ध हुए।

इस विषय में सोवियट लेखकों में हमें बिल्कुल ही दूसरी बात देखने में आती है। उनके यहाँ क्रान्ति के बाद बहुत सी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ पनपीं, मार्क्सवाद के नाम पर सच्चे साहित्य घोंटकर मार डालने का भी प्रयास किया गया। लेकिन वे इन सभी परिस्थितियों से ऊपर उभरे और आज सचमुच एक स्वस्थ राष्ट्रीय साहित्य का निर्माण कर रहे हैं। यद्यपि आज का सोवियट प्रगतिवादी साहित्य उतना गहरा तो नहीं जितना टाल्स्टाय या डास्टावस्की या गोर्की का, किन्तु वह स्वस्थ है। बहुत सी असामाजिक और

घातक प्रवृत्तियों का उसने परिहार कर लिया है। यद्यपि अभी भी उनसे हमारा मतभेद हो सकता है लेकिन उन्होंने जो कुछ किया है उसका बहुत बड़ा महत्व है। उसकी पृष्ठभूमि में हम यहाँ के प्रगतिवादियों की बहुत सी दुर्बलताओं को भली भाँति समझ सकते हैं। अतः मैं सब से पहले रूसी साहित्य में प्रगतिवाद पर ही विचार करूँगा।

रूसी साहित्य में प्रगतिवादी धारा
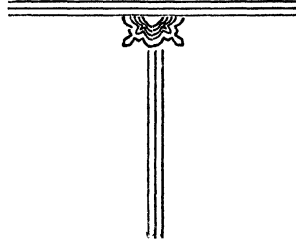
जैसे फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के पहले ही रोमाण्टिसिज़्म का सूत्रपात हो गया था और राज्यक्रान्ति के बाद समस्त पाश्चात्य साहित्य में रोमाण्टिक धारा ही प्रमुख हो उठी थी, उसी तरह रूसी राज्यक्रान्ति के बाद मार्क्सवादी साहित्य की चिनगारियाँ सारी दुनिया में बिखर गई हैं। भारत भी इससे अछूता नहीं रहा। भारतीय साहित्य में भी प्रगतिवाद बहुत जोरों के प्रचार के साथ आया। यद्यपि अभी तक उसे छायावाद की तरह व्यापकता नहीं मिल पाई है, और न उसने अभी तक प्रसाद जैसा कोई महान लेखक दिया है, लेकिन इससे हम इन्कार नहीं कर सकते कि प्रगतिवाद ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। फिर भी अभी तक प्रगतिवादी आलोचक प्रगतिवाद की स्पष्ट विवेचना भारतीय पाठक के आगे नहीं रख पाये हैं। इसीलिए मार्क्सवाद और प्रगतिवाद के बारे में एक विचित्र सा भ्रम हिन्दी पाठकों में है। सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ है कि अपने सिद्धान्तों में बराबर सोवियत् रूस का हवाला देकर भारतीय प्रगतिवादी आलोचकों ने रूस के साहित्य के बारे में भी एक विचित्र सा भ्रम फैला कर रूस को एक गलत और भ्रमपूर्ण स्थिति में रख दिया है। इसका नतीजा यह हुआ है कि रूढ़िवादियों और प्रतिक्रियावादियों को रूसी साहित्य के विरुद्ध एक गलत तरीके का

प्रचार करने का अवसर मिल गया है।

आवश्यकता इस समय इस बात की है कि हम निष्पक्ष रूप से यह समझने का प्रयास करें कि रूस की नवीन चेतना ने साहित्य में क्या जनवादी प्रयोग किये हैं और किस प्रकार इन प्रयोगों के सहारे रूस ने अपनी नवीन जन-संस्कृति के निर्माण में सहायता पहुँचाई है। रूस ने किस तरह बदलती हुई परिस्थितियों में बराबर अपनी राष्ट्रीय संस्कृति और अपनी प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा और अपने नवयुग के स्वप्नों के बीच में सन्तुलन लाने का प्रयास किया है, इसका जितना अच्छा चित्र हमें साहित्य में मिल सकता है उतना अन्य किसी चीज में नहीं। निष्पक्ष रूप से, पूँजीवादी अमेरिका और साम्राज्यवादी ब्रिटेन के प्रचार से अलग रहकर, हमें रूसी साहित्य के इतिहास से शिक्षा लेकर अपनी नई संस्कृति के लिए समुचित रूप-रेखा तैयार करनी चाहिये। रूसी साहित्य के ही समुचित अध्ययन से हम भारतीय प्रगतिवादियों की संकीर्णता और रूसी लेखकों की मानसिक उदारता और विशालता का अन्तर समझ सकेंगे।

सोवियट साहित्य, सोवियट संस्कृति का ही एक अंग है, उससे अलग कोई चीज नहीं! सोवियट संस्कृति के निर्माण में दो धागे गुँथे हुए हैं। एक तो वह आधार भूमि, वह जारशाही रूस जिसने क्रान्ति की, और एक वह चेतना जो क्रान्ति में और क्रान्ति के बाद आई। सोवियट साहित्य के विकास को ठीक से समझने के लिए हमें पहले उस मनोभूमि और उन साहित्यिक धाराओं की ओर ध्यान देना होगा जो कि क्रान्ति के पहले रूस में प्रचलित थीं। उसके बाद क्रान्ति हुई और किस प्रकार क्रान्ति के बाद क्रान्तिकारी वर्ग, सर्वहारा वर्ग ने साहित्य को नया रूप देने की कोशिश की, साहित्य में विभिन्न जनवादी प्रयोग करने का प्रयास किया, यह भी सावधानी से समझना होगा। सुविधा के लिए हम रूस के आधुनिक साहित्य को पाँच कालों में विभाजित करना चाहेंगे।

सबसे पहले पूर्व-क्रान्ति से क्रान्ति तक का काल आता है। इस काल में लेखकों में सर्वाहारा साहित्य की चेतना बहुत कम थी। उस समय लेखक अधिकतर व्यक्तिवादी थे और उन पर फ्रान्सीसी साहित्य का विशेष प्रभाव था। १९वीं शती के अन्त में ही समस्त यूरोपीय साहित्य में जो पतनोन्मुखी (डिकैडैण्ट) प्रवृत्तियाँ आ गई थीं उनका पूरा प्रभाव रूसी साहित्य पर था।

१. क्रांति तक (१९००-१८)

उस समय बालमान्ट, ब्रुसाव और सोलोगव मुख्य कवि थे और जैसा यारमोलिन्स्की ने अपने आधुनिक रूसी-काव्य-संग्रह में लिखा है, "ये लोग विदेशी आदर्शों से पूर्णतया अनुप्राणित थे और कई एक तो स्पष्ट कहते थे कि आधुनिक कविता केवल बासी फ्रान्सीसी शोरवा है जो रूसी चूल्हे पर गरम कर लिया गया है।" उसी फ्रांसीसी पतनोन्मुखता का स्पष्ट प्रभाव इस समय की इस कविता में भी मिलता है जिसे आलोचकों ने प्रतीकवादी कविता का नाम दिया है। समाज-विरोधी भावनाएँ, स्थापित नैतिकता के विरुद्ध विद्रोह, गुनाहों से खेलने की प्रबल प्यास और सेक्स की तृष्णा, यह इनकी कविता के मुख्य विषय थे। लेकिन फिर भी इस प्रतीकवादी कविता में हर लेखक की अपनी अलग शैली थी, अपनी अलग धारा थी। इनकी कविताओं में उस समय तक सौन्दर्यानुभूति ही मुख्य सूत्र था। लेकिन ये उस समय की प्रगतिवादी और उन्नतिशील प्रवृत्तियों से अलग हो गये थे और उनमें से हरेक एक निराश पैगम्बर था। उनका निराशावाद और व्यक्तिवाद किस सीमा तक पतनोन्मुख हो चुका था इसका बहुत विचित्र उदाहरण प्रसिद्ध प्रतीकवादी कवि अलैक्जेण्डर डोब्रुलुबव के जीवन से मिलता है। वह भी फ्रान्सीसी डिकैडैन्ट स्कूल से प्रभावित था और वास्तविक जीवन से दूर बोदलेयर के द्वारा बताए हुए कृत्रिम स्वर्ग (Paradis artificiels) में रहने में विश्वास करता था। उसने ताबूत की शक्ल का एक कमरा बनवा रक्खा था।

उसकी दीवारों पर काला कागज मढ़ा हुआ था, उसकी खिड़कियों पर काले शीशे और दरवाजों पर काले पर्दे पड़े हुए थे। वह स्वयम् काले कपड़े पहनता था। उसके दस्ताने तक काले थे। वह अफीम खाता था और चण्डू पीता था और अपने शिष्यों को आत्महत्या करने का उपदेश देता था।

१६०५ के लगभग रूस में जो क्रान्ति हुई उससे रूसी साहित्य के धरातल में भी कुछ हलचल पैदा हुई। निराशा के स्वरों में थोड़ी कमी हुई। तरुण प्रतीकवादियों के एक दल ने अपने पूर्वजों की सौन्दर्यमयी, रहस्यात्मक और व्यक्तिवादी शैली तो अपना ली, लेकिन बजाय पतनोन्मुखता के उन्होंने धार्मिक रहस्यवाद अपनाया। इनमें से आइवानव, बेली, ब्लाक और वोलोशिन प्रमुख थे। उनकी कविता में एक आवेशमयी दार्शनिकता मिलती है जो अन्त में एक धार्मिक विश्वास में परिणत होती है। इस काव्यधारा पर डास्टावस्की का बहुत प्रभाव मिलता है। आइवानक में धार्मिकता के साथ-साथ एक रहस्यमय समष्टिवादी भावना भी मिलती है। केवल व्यक्ति में ही आइवानव की कविता सीमित नहीं है। ब्लाक जिसे उस युग का महानतम कवि माना गया है, उनकी कविता (न्यू अमेरिका) में नवयुग के स्वर भी कहीं-कहीं सुन पड़ते हैं। उसने एक जगह अपनी कल्पना को सम्बोधित करते हुए लिखा भी है—"तुम्हारे रहस्यमय स्वरों पर विध्वंस की कराहों की छाप है !"

उसी समय सेन्ट पीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राड) के कवियों में एक नयी विचारधारा का प्रादुर्भाव हो रहा था। वे लोग प्रतीकवादियों की रहस्यमयी शैली का विरोध करते थे। उनके विचार से कविता सरल और स्पष्ट शैली में होना चाहिये, उसमें उलझन और गूढ़ता न होकर ठोस अभिधा होनी चाहिये और अनुभूति को स्पष्ट चित्रों (Images) के सहारे अभिव्यक्त करना चाहिये। इस धारा को एकेमिस्ट धारा कहते थे और गुमिलव इसका प्रवर्तक था। बाद

में इसी में से इमेजिस्ट या इमेजिहनिस्ट शाखा का विकास हुआ। इस धारा का मुख्य कवि येसेनिन था। इन लोगों के अनुसार अनुभूतियों को स्वतन्त्र और प्रभावपूर्ण शब्द-चित्रों में चित्रित कर देना ही कविता का अन्तिम लक्ष्य है।

लेकिन इस युग में सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन था फ्यूचरिस्ट आन्दोलन! श्लेब्निकव और मायकावस्की ने इस आन्दोलन की नींव डाली थी। अपने प्रारम्भिक काल में यह आन्दोलन समाजवादी आन्दोलन न होकर काव्य के क्षेत्र में एक सर्वथा शैलीगत आन्दोलन था। मायकावस्की एक बड़े ही सशक्त व्यक्तित्व का कलाकार था और वह प्रतीकवाद की परम्परा को सर्वथा छिन्न-भिन्न कर देना चाहता था। प्रतीकवाद की अपार्थिव सूक्ष्मता, काल्पनिकता और सांकेतिकता को हटाकर एक मांसल यथार्थ का समावेश कविता में करना चाहता था। वह मशीन युग का प्रतिनिधि था और अपनी भावना और शैली दोनों ही में वह एक फौलादी कठोरता लाना चाहता था। अपने विचारों में मायकावस्की समाजवादी था, गरम समाजवादी; उसकी शैली में बन्दूक से छुटी हुई गोली की सी तेजी थी और उसके स्वरों में फौलादी यन्त्रों की खड़खड़ाहट। उसकी उपमाओं में नवीन यान्त्रिक युग की छाया थी। वह लिखता है—"एक निर्लज्ज लालटेन सड़क की टाँगों से ऊन के नीले मोजे खींच लेती है!" जिस प्रकार की उपमाओं और कल्पनाओं के लिए टी० एस० ईलियट इतना मशहूर है, उस तरह की उपमाओं में मायकावस्की बीसियों गुना बढ़ा-चढ़ा है।

सन् १६१२ में मायकावस्की के हस्ताक्षरों सहित फ्यूचरिज्म का जो घोषणापत्र निकला था वह बहुत महत्वपूर्ण है और उससे स्पष्ट है कि फ्यूचरिज्म कविता की पुरानी भाषा और पुरानी शैली के विरुद्ध नवीन भाषा और नवीन शैली का विद्रोह है। वह घोषणापत्र इस प्रकार था—

"जनरुचि के मुँह पर करारा तमाचा

पाठकों के लिए हमारी प्रथम और अप्रत्याशित घोषणा

हमी अकेले अपने समय के अग्रदूत हैं, साहित्य में अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

अतीत की परम्पराएँ हमारा दम घोंट देती हैं। एकेडेमी और पुश्किन ऐसे शिलालेख हैं जो अब हमारे समझ में नहीं आते, जिनके अक्षर अब हम भूल गये हैं। अब टालस्टाय, पुश्किन, डास्टावस्की को समय की नौका से उठाकर लहरों में फेंक देना चाहिये।

जो अपने पहले प्रेमास्पदों को नहीं भूलता, वह नये प्रेमास्पदों को पूरा प्रेम नहीं दे पाता।

ये जितने मैक्सिम गोर्की, कुप्रिन, ब्लाक, सोलोगव, कुजमिन, बुनिन हैं, इन सबको अगर गाँव में एक झोपड़ी दे दी जाय तो ये सन्तुष्ट हो जायँगे। दर्जियों की किस्मत में यही लिखा होता है। हम अपनी गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के शिखर से जब इन बौनों को देखते हैं तब इनकी क्षुद्रता हमें मालूम होती है।

हम विश्वास करते हैं कि कवि को पूरा अधिकार है कि—

* वह देशज और तद्भव शब्दों से कविता का शब्द-कोष और बढ़ाता रहे।

* अपने से पहली पीढ़ी की शैली से वह पूरे हृदय से घृणा कर सके।

* आपके दिये हुए यश के मुकुट पर वह थूक सके।

* गालियों और विरोध के समुद्र में भी वह अहम् शब्द के द्वीप पर खड़ा हो सके।

अगर अब भी हमारी पंक्तियों में आपकी सुरुचि और आपकी पसन्दगी का कीचड़ झलकता है तो भी एक नयी उगती हुई दुनिया के सौन्दर्य की बिजली उन पर जगमगा रही है।"

इस घोषणापत्र से स्पष्ट है कि यद्यपि इसमें अभी सर्वहारा क्रान्ति और समाजवादी आदर्श का समावेश नहीं हो पाया था फिर भी भविष्यवाद पुरानी शैली का, पुराने साहित्य का बहुत तीखा विरोधी था। वह एक सिरे से सभी 'प्राचीन' का विरोधी था चाहे वह समाजवादी गोर्की हो, या प्रतीकवादी ब्लाक, या अध्यात्मवादी टाल्सटाय या रोमान्टिक पुश्किन ! इस प्रकार का समन्वयहीन, सन्तुलनहीन, पागलपन से भरी हुई विद्रोही प्रवृत्ति एक अस्वस्थ मनोवृत्ति की परिचायक अवश्य थी, लेकिन इससे यह स्पष्ट हो गया था कि रूसी साहित्य निकट भविष्य में इतना आकस्मिक मोड़ लेने जा रहा है कि उसे अपनी पुरानी पगडण्डियाँ याद रख पाना असम्भव होगा।

२. संक्रान्तिकाल (१९२२)

उसके बाद जमी जमाई हुई व्यवस्था को चूर-चूर करते हुए, युगों की मान्यताओं को तिनके की तरह उखाड़ते हुए और इतिहास के पत्रों पर लिखे हुए अक्षरों को खून से मिटाते हुए रूस की महान सोवियत क्रान्ति आई। क्रांति के पहले विस्फोट ने ही जारशाही सभ्यता के तार-तार उड़ा दिये। खून की नदियों से, संगीनों की कलमों ने मानवता के इतिहास का नया अध्याय लिखा जा रहा था।

"Silent muse Inter arma" जब बन्दूकें गरजती हैं तो कला खामोश हो जाती है। युद्ध ने कला की प्रगति को पहले ही से धीमा कर दिया था, क्रान्ति ने उस पर चादर उढ़ा दी। पत्र बन्द हो गये, होटलों में बन्दूकों से युद्ध होने लगा, नदियाँ खून से लाल हो गईं, फूल खून से तर हो गये, आसमान लाल तारों से गूँज उठा, सितारों से हँसिये हथौड़े के झण्डे टकराने लगे—इतनी भयंकर उथल-पुथल आई जिसने एक बार काव्य-चेतना को मूर्छित कर दिया।

धीरे-धीरे प्रलय शान्त हुई, बादल छँट गये क्षितिज साफ हुआ,

सूरज मुस्कुराने लगा, आँख खुली तो दुनिया बदल गई थी। सभी कुछ बदल चुका था। साहित्य के मन्दिर के पुराने देवताओं को किसी ने तोड़ दिया था और नये देवताओं ने उनके सिंहासनों पर कब्जा कर लिया था। केवल शासन नहीं बदला था, युग का स्वर बदल गया था। जनता की संस्कृति बदल गई थी।

रूसी कलाकार स्तब्ध था। सबसे पहले ब्लाक ने आवाज उठाई। उसने क्रान्ति का स्वागत किया। एक रात्रि में, नीरवता में जाते हुए १२ लाल सैनिकों पर उसने एक गीत लिखा—"वे बारह"। उसमें उसने लिखा कि ये १२ लाल सैनिक शायद ईसा के १२ शिष्य हैं और शायद श्वेत गुलाबों के कोहरे में छिपा हुआ मसीहा इनको रास्ता दिखा रहा है। हम देख चुके हैं कि प्रतीकवाद में धार्मिक रहस्यवाद का एक गहरा पुट था और इस लाल क्रान्ति का स्वागत भी उन्होंने धार्मिक या आध्यात्मिक स्तर से किया, कम्यूनिस्टों के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त पर उन्हें शायद विश्वास नहीं था।

ब्लाक के बाद तो इन लाल सैनिकों को मसीहा मानने का आग्रह रूसी कविता में बहुत बढ़ गया। १९१८ में आन्द्रे बीली ने—"मसीहा फिर उठा है!" शीर्षक गीत में यही भावनात्मक की है। मैक्सिमिलियन वोलोशिन ने इस क्रान्ति को एक राष्ट्रीय क्रान्ति बताया और उसका स्वागत किया। एकेमिस्ट धारा का प्रवर्तक गुमिलव अवश्य क्रान्ति से सन्तुलन नहीं कर पाया और १९२२ में वह सोवियट विरोधी षड्यन्त्र करते हुए पकड़ा गया और उसे प्राणदण्ड दे दिया गया। लेकिन इमेजिस्ट कवि येसेनिन ने अवश्य क्रान्ति का स्वागत किया। वह समझता था कि क्रान्ति इस मशीन सभ्यता को मिटा कर फिर ग्राम संस्कृति लावेगी और कविता में सौन्दर्य, प्रेम और सुकुमार अनुभूतियों की प्रतिष्ठा होगी।

उस समय प्रकाशन गृह बन्द थे। चायघरों और होटलों में लेखक और कवि मिलते थे और अपनी कविता पढ़ते थे। सभी में एक नया

उत्साह था, सभी क्रान्ति की व्याख्या अपने ढंग से कर रहे थे और सभी की कला में एक नई जान आ रही थी। एक कवि ने तो यहाँ तक लिखा था—"हम धरती को उलट रहे हैं, और उसके बाद हम सितारों की दुनिया में गदर करेंगे!" लेकिन कितने सितारों की किस्मत में टूटना बदा था यह अभी भविष्य के पर्दे में छिपा था।

किन्तु इस संक्रान्तिकाल में मायकावस्की ने अपने को बहुत चमका लिया। इसके कई कारण थे। मायकावस्की में प्राचीन गूढ़ शैली के खिलाफ एक विद्रोह था और वह जनता की भाषा में लिखता था। १९१२ में L. E. F. की ओर से निकाले गये घोषणापत्र में उसने स्पष्ट लिखा था कि वह बोलचाल की भाषा में और कविता भाषा में कोई अन्तर नहीं समझता। उसकी जनप्रियता का सबसे पहला कारण था उसकी भाषाएँ और उपमा जो न केवल बोलचाल की वरन् कभी-कभी तो बिल्कुल ही बाजारू होती थीं—

मेरे फेनयुक्त मुँह से
कै की तरह उगला हुआ हर शब्द
नंगी वेश्याओं की तरह नाच उठता है! (पाजामापोश बादल)

यह भाषा चाहे मानव जीवन के गम्भीर सत्यों के निरूपण के लिए उपयुक्त भाषा न हो, लेकिन इसमें वह गाली गलौज थी जो उस अराजकता के समय में काफी प्रचलित थी। युद्ध के समय में जनता गरम जोशीले नारे ज्यादा पसन्द करती, है सन्तुलित, गंभीर और तर्कयुक्त सत्य नहीं। मायकावस्की में वह नारेबाजी काफी मात्रा में थी।

दूसरी बात उसकी जनप्रियता की यह थी कि उसने सर्वथा सामयिक तथ्यों पर कविता लिखी। उस वक्त जनता अपनी प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति में लगी हुई थी और मायकावस्की ने इन्हीं चीजों को अपनी कविता का विषय चुना—सोवियट पासपोर्ट, कम्यूनिस्ट सम्मेलन, बढ़ते हुए रेलभाड़े आदि। उसकी कविता बड़ी

उत्कृष्ट ढंग की पत्रकारिता थी और इसीलिए वह इतना ही जनप्रिय हो गया जितना कि युद्ध के दिनों में अखबार जनप्रिय हो जाते हैं। स्वयम् उसने अपनी जीवनी में लिखा है, "मुझे दिनोदिन महसूस हो रहा है कि मैं अपनी कला में पत्रकार अधिक होता जा रहा हूँ।" लेनिन स्वयम् उसके काव्यात्मक महत्व को स्वीकार नहीं करता था। ६ मार्च सन् १६२२ को इजवेस्तिया में प्रकाशित उसकी एक कविता के विषय में लेनिन ने लिखा था—"जहाँ तक उसकी राजनीति का प्रश्न है वह सर्वथा सही है, हाँ काव्यात्मक उत्कृष्टता के विषय में मैं कुछ नहीं कह सकता!" मायकावस्की में एक युद्धप्रियता थी। एक सामयिकता थी, एक तीखी, भावनात्मक और व्यंगमयी शैली थी। सहज और सरल भाषा थी, चुटीली अभिव्यंजना थी और अनुभूति का एक छिछलापन था जिसने उसे इतना जनप्रिय बना दिया था।

११ वर्ष पहले फ्यूचरिस्ट घोषणापत्र का शीर्षक उसने लिखा था—'जनरुचि के मुँह पर करारा तमाचा' लेकिन अब वह सर्वथा जनरुचि का कवि था और उसमें कहीं पर भी उदार दृष्टिकोण और विचारों और आकलनों की ऊँचाई नहीं थी। वह कलाकार न रह कर एक मशीन बन गया था जिसका चक्का सरकार के हाथ में था। उसने स्वयम् "होमवार्ड्स" नामक कविता में लिखा है—

"मैं अनुभव करता हूँ
कि मैं आनन्द बनानेवाला
एक सोविवट कारखाना हूँ।"

मायकावस्की कविता को एक यान्त्रिक साँचे में ढालने के पक्ष में था। वह कविता को कवि की वैयक्तिक अनुभूति न मानकर एक सामूहिक उत्पादन मानता था जिसका नियन्त्रण सर्वथा राज के हाथ में हो।

लेकिन उस समय तक संक्रान्तिकाल समाप्त हो चुका था।

पुनर्निर्माण या लेनिन की नव-आर्थिक-नीति (N. E. P.) का युग था। उथल-पुथल शान्त हो चुकी थी। हत्या और रक्तपात, प्रलय और क्रान्ति ने जो कुछ तोड़-फोड़ दिया था, उसके खण्डहरों पर पत्थर पर पत्थर जमा कर फिर नई मीनार उठाने का प्रयास किया जा रहा था। निर्माण की एक नवीन चेतना ने संस्कृति को फिर सजीव और सक्रिय कर दिया था। अराजकता खत्म होकर एक व्यवस्थित जीवन का प्रारम्भ हो रहा था। राष्ट्र की बागडोर उस समय भी लेनिन के के हाथ में थी और इसीलिए संकीर्णता नहीं आ पाई थी। नव-निर्माण के प्रयोग सोवियट संस्कृति में हो रहे थे और साहित्य भी इस प्रयोगों से अछूता नहीं था।

३. पुनर्निर्माण काल (२२-२८)

साहित्य में उस समय कई विचारधाराएँ और कई साहित्यिक समूहों का आविर्भाव हुआ। इन साहित्यिक दलों में सबसे प्रमुख था—प्रोलेटकल्ट (सर्वहारा-पन्थ) जो साहित्य को वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में सीमित कर देना चाहता था और राजनीति की तरह ही साहित्य में भी सर्वाहारा चेतना का शासन चाहता था। १९१७ में जब बोल्शेविकों की विजय हो गई उसी समय उन्होंने बोर्जुआ संस्कृति को नष्ट कर कम्यूनिस्ट संस्कृति की स्थपना करनी चाही। उनका विश्वास था कि जैसे उनकी शक्ति ने शासन में क्रान्ति कर दी है वैसे ही प्रोलेटेरियट लेखकों की कल्पना साहित्य में क्रान्ति कर देगी। उनका विश्वास था कि जैसे युद्ध-क्षेत्र में प्रोलेटेरियट वर्ग बोर्जुआ वर्ग से लड़ा है और लड़कर उसने उनकी सत्ता को उखाड़ फेंका है उसी तरह साहित्य क्षेत्र में भी सभी पूँजीवादी तत्वों को चुनकर निकाल फेंकना होगा। और शायद उनका विश्वास था कि साहित्य और कला के क्षेत्र में बोर्जुआ तत्वों से लड़ने का भी तरीका वही भय, आतंक, आक्रमण और रक्तपात का तरीका होगा।

१० सितम्बर सन् १९१८ को अखिल रूसी प्रोलेटेरियट संस्कृति

और शिक्षा संस्थाओं के सम्मेलन में ए० बोग्दैनोव का एक प्रस्ताव रक्खा गया जिसमें उसने बताया कि—"वर्गवादी समाज में समष्टिवादी और वर्गवादी तत्वों को संगठिन करने और उन्हें युद्ध के लिए तैयार करने में कला सबसे बड़ा हथियार है।" इसी प्रस्ताव के आधार पर १६२० में प्रोलेट्कल्ट की स्थापना हुई, जिसका मुख्य उद्देश्य था वर्गवादी संस्कृति (जो वर्ग-संघर्ष में विश्वास करती हो) का प्रचार!

लेकिन लेनिन यथार्थ द्रष्टा था। वह साहित्य के सच्चे मूल्य से अवगत था, वह वर्ग-संघर्ष की संकीर्णता को कभी अपने निर्माण कार्य में बाधा नहीं पहुँचाने देता था। वह जानता था कि साहित्यिक क्षेत्र में कलाकार की वैज्ञानिक स्वतन्त्रता सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण होती है। उसके ऊपर कोई भी सिद्धान्त लादना ठीक नहीं होता। वह रूस के नव-निर्माण काल में साहित्य को पुनर्जीवित करना चाहता था अतः उसने साहित्य पर किसी प्रकार की भी तानाशाही करने का विरोध किया। उसी की प्रेरणा से १६२४ के वसन्त के सम्मेलन में कम्यूनिस्ट पार्टी की सेन्ट्रल कमेटी ने साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कहा गया—"पार्टी को संक्रान्ति में से गुजरते हुए साहित्यिक आदर्शों के प्रति उदारता और सहनशीलता का दृष्टिकोण रखना चाहिये। साहित्यिक विद्वानों और प्राचीन सांस्कृतिक वैभव के प्रति एक प्रकार की अरुचिपूर्ण और बुद्धिहीन प्रवृत्ति लोगों में जाग गई है, उसके खिलाफ पार्टी को जंग करना चाहिये। कम्यूनिस्ट आलोचना में तानाशाही का स्वर नहीं आना चाहिये। प्रोलेटेरियट वर्ग के साथ जो साहित्यिक दल चल रहे हैं, या चलना चाहें उनके प्रति पार्टी को बहुत बुद्धिमतापूर्ण, सहानुभूतिपूर्ण और उदार दृष्टिकोण रखना चाहिये।"

इस प्रस्ताव के अनुसार कम्यूनिस्ट लेखकों के अलावा अन्य लेखकों को सहयात्री (Populitchiki) कहा जाने लगा और उन्हें भी रूसी पत्रिकाओं में पूरे आदर का स्थान दिया जाने लगा।

इन सहयात्रियों में, उन लेखकों में जो कम्यूनिस्ट नहीं थे और वर्ग-संघर्ष में विश्वास नहीं करते थे, दो दल मुख्य थे, ओप्यज और सेरेपियन आदर्श।

इनमें से सेरेपियन बन्धु का दल बहुत ही महत्वपूर्ण है, विशेषतया इसलिए उनके पीछे तत्कालीन महानतम लेखक गोर्की का हाथ था। यद्यपि गोर्की स्वयम् जीवन भर मज़दूरों के लिए लड़ा था, लेकिन वह अच्छी तरह जानता था कि साहित्य का अपना स्वाभिमान होता है और कोई भी वर्ग उस पर शासन नहीं कर सकता। वह लेखक की स्वतन्त्रता का हामी था और वह चाहता था कि हरेक लेखक अपना मार्ग स्वयम् निर्धारित करें। इस दल ने अपनी स्थापना का वर्णन करते हुए लिखा है—"१६२१ के फरवरी मास में, एक ऐसे जमाने में जो कड़े कानूनों और फौजी अनुशासनों का जमाना है, जब सभी चीजों को एक ही गज से नापने की कोशिश की जा रही है, ऐसे जमाने में हमने एक संघ बनाने का निश्चय किया है, जिसमें न कोई कानून होंगे न कोई तानाशाह, न चुनाव होगा न वोट!

"चूँकि यह क्रान्ति और राजनीतिक अव्यवस्था के दिन हैं अतः हरेक का यही नारा है कि जो हमारे साथ नहीं है वह हमारे खिलाफ है। अतः हर तरफ हमसे यही पूछा गया कि हम किसकी तरफ हैं? कम्यूनिज्म या पूँजीवाद, क्रान्ति या प्रतिक्रिया? हम सेरेपियन बन्धु किसकी तरफ हैं? हम सन्त सेरेपियन की तरफ हैं!"

यह सन्त सेरेपियन हाफमैन के एक उपन्यास का नायक था जो व्यक्तिगत प्रेरणा और कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में स्वतन्त्रता का हामी था। अगस्त सन् १६२२ में उन्होंने अपना घोषणापत्र प्रकाशित किया—

"हम कोई दल नहीं हैं, किसी निर्धारित दिशा के अनुयायी नहीं हैं, न हाफमैन के शिष्य हैं।

"हम अपने को सेरेपियन बन्धु इसलिए कहते हैं क्योंकि हम यह

नहीं चाहते कि कलाकर को किसी तरह विवश किया जाय। हम वैयक्तिक विशेषताओं के हामी हैं और यह भी जानते हैं कि अगर सभी लेखकों की कला एक सी रहेगी तो उसका सारा जादू खत्म हो जायगा।

"सेरेपियन बन्धु न कोई दल हैं, न कोई वर्ग। हम लोग एक दूसरे से सदा मतभेद प्रकट करते रहते हैं, इसीलिए हम अपने को सेरेपियन बन्धु कहते हैं।

"हम केवल यह चाहते हैं कि कलाकृति सजीव और अनुभूति पर आधारित होनी चाहिये और उसमें वह सजीवता रहनी चाहिये जो महान कलाकृतियों की विशेषता होती है।"

सेरेपियन बन्धुओं के द्वारा प्रचारित की जानेवाली इस कलाकार की स्वाधीनता का ही परिणाम था कि इस काल में (२२-२६) रूसी कथा साहित्य का पुनर्भव हुआ और साहित्य की उन्नति हुई। प्रमुख सेरेपियन जमैटिन जो लेखन-कला का आचार्य था, उसने कलाकृति के बाह्य रूप को भी खूब अच्छी तरह सँवारने की सलाह दी और स्वयम् बहुत ही कलात्मक कहानियाँ लिखीं। आइवानोव, कावेरिन, टिरवानोव, फेडिन आदि सभी उसी के शिष्य थे। जोशेन्को और रोमानोव ने हास्यमय उपन्यास लिखे; ल्योनोव, फेडिन, ओलेशा और कावेरिन ने मनोवैज्ञानिक रोमान्टिक उपन्यास लिखे; शोलोखव ने टालस्टाय की परम्परा के महाकाव्य की तरह बड़े-बड़े उपन्यास (Epic novels) लिखे।

लेकिन ओप्यज (Opyaz) एक सर्वथा विभिन्न मतवाद था। वह साहित्य की भाषा और शैली को एक सर्वथा नवीन ढंग से संगठित करना चाहता था। उसके सामने विषय या कवि के व्यक्तित्व का कोई महत्व नहीं था। १९२३ में अपने घोषणापत्र में ओप्यज ने कहा—"ओप्यज (काव्य-भाषा के अध्ययन का विद्यापीठ) का विश्वास है कि कवि होते हैं न लेखक। केवल कविता और साहित्य का अस्तित्व ही सत्य है। कवि केवल एक चतुर कारीगर होता है

और कुछ नहीं। लेकिन भाषा का बादशाह बनने के लिए यह बहुत आवश्यक है कवि उन लोगों की आवश्यकताओं को समझे जिनके लिए वह कविता लिखने जा रहा है, और जहाँ तक हो सके उनके जीवन में भाग ले, अन्यथा रचना में कभी भी शक्ति न आयेगी।

"कविता का अध्ययन करना मुख्यतया इस साहित्यिक 'रीति' का अध्ययन करना है। कविता का इतिहास उन साधनों का इतिहास जिनके सहारे कवियों ने अपनी भाषा और शैली का शृङ्गार किया है।"

समाजवादी रूस में, वर्ग-संघर्ष में विश्वास करनेवाले लोगों में इस प्रकार का शुद्ध शैली पर आधारित साहित्यिक मन देखकर आश्चर्य होता है। 'कला कला के लिए' वाले सिद्धान्त को समाजवादियों ने हमेशा एक पतनोन्मुख सिद्धान्त माना और शैली को कभी ज्यादा महत्त्व नहीं दिया, लेकिन ओप्यज ने कविता की भाषा और शैली को ही सब से प्रमुख माना। हिंदी के रीतिकाल का विरोध जिस आधार पर किया जाता है वही बात ओप्यज में थी।

लेकिन उसका आधार तत्कालीन परिस्थितियों में था। रीतिकाल में आचार्यों ने कविता के विषय, भावनाएँ, भाव, विभाव, रस, नायक नायिका, ऋतुएँ सभी कुछ निर्धारित कर दी थीं, कवि निर्धारित विषयों पर ही लिख सकता था अतः उसके सामने प्रयोग के लिए केवल एक ही क्षेत्र रह गया था, भाषा और शैली का क्षेत्र। इस समय रूस में भी कम्यूनिस्ट पार्टी के संकीर्ण पक्ष का आग्रह था कि कवि केवल प्रोलेटारियट विषयों पर लिखे अतः ओप्यज अपने नवीन प्रयोगों के लिए केवल भाषा का क्षेत्र ढूँढ़ सकता। भाषा के सम्बन्ध में भी कम्यूनिस्ट पार्टी का सेन्ट्रल कमेटी ने १६२५ के वसन्तवाले प्रस्ताव में कहा ही था—"कविता की एक ऐसी शैली ढूँढ़ निकालनी चाहिये जो करोड़ों जनता के समझ में आ सके।" इसी उद्देश्य से ओप्यज ने कहा था कि कवि को अपने पाठक के जीवन में भी भाग लेना चाहिये और उन्हीं के योग्य भाषा लिखनी चाहिये।

लेकिन कविता की नई शैली का प्रयोग पहले भी मायकावस्की अपनी भविष्यवादी कविता में कर चुका था। वे प्रयोग अब भी जारी थे। उसके दल को अब लोग L. E. F. या नवीन वाम पक्ष कह कर पुकारते थे। उसी के भविष्यवाद की एक शाखा (Constructivism) कंस्ट्रक्टिविज़्म थी जिसका प्रमुख कवि रोबिन्स्की था।

ये सभी प्रयोग स्वतन्त्रता से साथ-साथ चल रहे थे। कम्यूनिस्ट लेखक और सहयात्री (Fellow travellers) दोनों ही का सम्मान था और लेनिन की अध्यक्षता में पार्टी और शासक दोनों ही के विचार बहुत उदार और स्वातन्त्र्यपूर्ण थे। फिर से रूसी साहित्य में एक पुनर्जागरण आरम्भ हो गया था।

लेकिन उस समय भी ऐसे विचार की कमी नहीं थी जो वर्ग-संघर्ष की संकीर्णता के जाल में साहित्य को पूरी तरह फँसा लेना चाहते थे। प्रोलेटकल्ट का उल्लेख पहले ही हो चुका है। किस तरह वे केवल प्रोलेटेरियट वर्ग के साहित्यिकों को ही बढ़ावा देना चाहते थे और जो लेखक कम्यूनिस्ट नहीं थे उन्हें गिराना चाहते थे यह भी पहले बताया जा चुका है। पी० कोगन इस प्रकार के विचारकों में प्रमुख था। वह तो मायकावस्की तक का विरोध करता था और "आजकल का साहित्य' नामक लेख में १९२४ में उसने लिखा—"मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं कि मायकावस्की भाषा और साहित्य के क्षेत्र में क्या नये प्रयोग कर रहा है। उपमा, चित्र, छन्द, वाक्य, में क्या नवीनताएँ आ रही हैं इससे मुझे क्या मतलब। यह प्रश्न जनता में उठाये ही क्यों जाते हैं?"

उस समय के संकीर्ण मार्क्सवादी बहुत ही जोश में थे और अपने अलावा अन्य सभी लेखकों को हटाकर अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। उनके स्वर में प्रजातान्त्रिक, उदार और सहानुभूतिपूर्ण भावना न होकर एक ललकार भरी फैसिस्ट भावना थी। उन्होंने अपना एक दल स्थापित किया था—ऑन गार्ड (सावधान!)।

लेनिन ने अपनी नव-आर्थिक-नीति में जिस उदारता की नीति बरती थी उसके ये सर्वथा विरुद्ध थे। १९२३ में ही इन्होंने अपने घोषणापत्र में कहा था—"यह लिबलिबी नीति अब समाप्त होनी चाहिये। हमको साहित्य में प्रोलेटेरियट दिशा के लिये एक मज़बूत आवाज बुलन्द करनी होगी। ढुलमुल-यकीनवाले सहयात्री लेखक (Fellow Travellers) और बोर्जुआ अवशेषों के खिलाफ अपने पुराने युद्ध के झण्डे फिर ऊँचे उठाने चाहिये, एक घमण्ड और अजेय भावना के साथ!

"हम लोग प्रोलेटेरियट साहित्य में एक स्पष्ट और दृढ़ कम्यूनिस्ट नीति के पक्ष में है।

"हम लोग उन आलोचकों के विरुद्ध लड़ेंगे जो सहयात्री लेखकों का पक्ष लेकर हमारी क्रान्ति का रूप बिगाड़ना चाहते हैं और अतीत और वर्तमान के बीच एक कसरती पुल बनाना चाहते हैं!"

रूसी साहित्य का भाग्य तराजू के पलड़े पर काँप रहा था। एक ओर लेनिन और उसके अनुयायी थे जो मार्क्सवाद को व्यापक बना रहे थे, जो वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त की संकीर्णताओं में साहित्य और संस्कृति को जकड़ नहीं देना चाहते थे, जो चाहते थे कि मार्क्सवाद वर्तमान परिस्थितियों से सन्तुलन करे, जो रूढ़िवादी मार्क्सवाद के खिलाफ थे, जो सचमुच विद्रोही थे और सच्चे विद्रोही होने के नाते जो निर्माण का स्वरूप भी पहचानते थे और एक व्यापक और उदार समन्वय के पक्ष में थे। दूसरी ओर वे संकीर्ण मार्क्सवादी थे जिनके सामने केवल एक मृत सिद्धान्त मुख्य था, जो रूढ़िगत सिद्धान्त को सजीव मानव और नवीन निर्माण से अधिक महत्व देते थे और जो, यद्यपि अपने को प्रोलेटेरियट विद्रोही कहते थे लेकिन जिनमें जारशाही रूस के नौकरशाहों की सी संकीर्णता भरी हुई थी।

लेकिन रूसी साहित्य की बदनसीबी से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आईं कि इन्हीं संकीर्ण मार्क्सवादियों की तानाशाही कायम हो गई।

१९२५ के प्रस्ताव में कम्यूनिस्ट पार्टी ने कहा था "कम्यूनिस्ट आलोचना में तानाशाही का स्वर नहीं आना चाहिये!" लेकिन ४ वर्ष बाद ही रूसी साहित्य का वह युग शुरू हुआ जिसे प्रोलेटेरियट तानाशाही का युग कहते हैं।

२१ जनवरी सन् १९२४ को लेनिन की मृत्यु हो गई थी। उसके बाद ही ट्रास्टकी और स्टालिन का संघर्ष उठ पड़ा। ३ वर्ष तक रूस में बड़ी अव्यवस्था सी रही। ट्राट्स्की, जो एक भावनात्मक आदर्शवादी था और रूस की यथार्थ समस्याओं को व्यावहारिकता की दृष्टि से नहीं देख पाता था, उसने कई जगह अपने त्रिकोण बना लिये थे। सन १९२७ में अन्त में ट्राट्स्की को कम्यूनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। लेकिन दूसरी समस्या उन रूसी किसानों की थी जिन्हें कुलक कहते थे। 'नव-आर्थिक-नीति' में इन कुलकों का उनकी भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार रहने दिया गया था लेकिन साम्यवाद के प्रसार के लिए आवश्यक था कि उनके खेतों को समष्टि रूप से सम्मिलित कर लिया जाय। बुखारिन व्यक्तिगत सम्पत्ति का पक्ष लेकर साम्यवाद के प्रसार के विरुद्ध लड़ रहा था। कुलकों के विरुद्ध युद्ध छेड़ा गया और अन्त में वे हार गये। लेकिन विरोधियों के षड्यन्त्र जारी थे। डोनेज के कोयला क्षेत्र में एक बहुत बड़ा दल पकड़ा गया जो बोर्जुआ इंजीनियरों द्वारा संचालित था और खानों को नष्ट कर देना चाहता था। इन सब चीजों ने स्टालिन को संशकित कर दिया था। वह बागडोर कस लेना चाहता था वरना उसे डर था, और शायद सही डर था, कि कहीं प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ संसार के इतिहास में सर्वप्रथम समाजवादी प्रयोग के नष्ट न कर दें।

स्टालिन की इस संशकित मनोवृत्ति का पूरा लाभ संकीर्ण मार्क्स-वादियों ने उठाया। सन् १९२८ में ट्राट्स्की, कुलक और बोर्जुआ षड्यन्त्रों से अवकाश पाकर स्टालिन ने रूस के निर्माण के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाई और उसने घोषणा की कि देश की सारी

शक्तियाँ इस योजना की सफलता में लग जानी चाहिये। बिल्ली के भागों छींका टूटा। बहुत दिन बाद उन संकीर्ण मार्क्सवादियों की सिंहासन पर बैठने की लालसा पूरी हुई।

१६२६ में R. A. P. P.—"प्रोलेटेरियट लेखकों का रूसी संघ" कायम हुआ। आवरबाख नामक आलोचक उसका अध्यक्ष और तानाशाह बनाया गया। उसने घोषित किया—"सोवियट-संघ एक निश्चित योजना के अनुसार निर्माणात्मक साम्यवाद के युग में प्रवेश कर रहा है और तूफान भी तेजी से बढ़ रहा है। लेकिन साहित्य उतनी तेजी से नहीं बढ़ रहा है जितनी तेजी से उद्योग-धन्धे बढ़ रहे हैं। अब साहित्य को अपने कदम तेजी से बढ़ाने चाहिये और समय के साथ आना चाहिये।" १६३० में आर० ए० पी० पी० की पत्रिका में लिखा गया—"सोवियट साहित्य के सामने आज केवल एक समस्या है—पंच वर्षीय योजना और उसके ढाँचे के अन्दर वर्ग-संघर्ष का विकास। साहित्यिक कृतियों में यथार्थ का चित्रण होना चाहिये। कुलकों का दमन, लाल सेना की बहादुरी, औद्योगीकरण, गाँवों का समष्टीकरण, यही साहित्य के विषय हैं।"

संसार के किसी साहित्य में इतना हास्यास्पद प्रयोग न हुआ होगा जितना प्रथम पंचवर्षीय योजना में साहित्य का यह संकीर्ण मार्क्सवादी प्रयोग! धीरे-धीरे इसमें अखाड़ेबाजी शुरू हो गई। कभी-कभी ऐसा होता कि कुछ कम्यूनिस्ट मिलकर किसी कवि को अखबारों में चुनौती देते कि वह मिट्टी के तेल के कुओं पर उत्साह-वर्धक कविता लिखे! एक बार एक गद्य लेखक को चुनौती दी गई कि वह वोल्गा फार्म पर पर एक उपन्यास महीने भर के अन्दर लिखे। आर० ए० पी० पी० के अन्तर्गत विचित्र प्रकार के संघ बने। एक एल० ओ० के० ए० एफ० था जो लाल सेना और जहाजी बेड़े के लेखकों का संगठन था और ये लोग अपने को शोलोखव से भी ज्यादा बड़ा लेखक मानते थे क्योंकि वे शोलोखव से ज्यादा बड़े प्रोलेटेरियट थे। कारखानों में

और खलिहानों में 'शाकब्रिगेड' नामक संघों का संगठन हुआ जिनमें श्रमिकों को शामिल किया गया और उन्हें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उम्मीद की जाती थी कि चूँकि वे स्वयम् प्रोलेटेरियट हैं अतः वे बहुत उत्कृष्ट प्रोलेटेरियट साहित्य देंगे।

जो आवरबाख का हुक्म नहीं मानते थे उनको कहीं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। एक लेखक ने एक उपन्यास लिखा लेकिन एक रूसी प्रकाशन गृह ने उसे छापने से इन्कार कर दिया क्योंकि उसका कथानक सन् १९२५ का था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नहीं आता था। वर्ग-संघर्षवाद एक हास्यास्पद, सीमा तक पहुँच चुका था। भिश्ती के हाथ में साहित्यिक हुकूमत थी और वह चमड़े के सिक्के चला रहा था।

लेकिन यह संकीर्णता साहित्यिकों को बहुत महँगी पड़ी। मायकावस्की जैसे वाम-पन्थी और जनप्रिय कवि को सन् ३० में आत्महत्या कर लेनी पड़ी। येसेनिन ५ वर्ष पहले ही आत्महत्या कर चुका था। जमैटिन जो सेरेपियन बन्धु का संस्थापक था उसे पेरिस भाग जाना पड़ा। मायकावस्की की मौत एक बहुत बड़ी चेतावनी थी। पाठकों में इस संकीर्ण साहित्य के प्रति एक अरुचि और घृणा पैदा हो गई थी।—एक जार्जियन उपन्यासकार ज्हावाकिशिविली ने एक पत्र का उद्धरण दिया है जो रोस्टोव-ऑन-डान के एक पुस्तकालय के प्रोलेटेरियट पाठकों ने उसे लिखा था—"आप लोग प्रेम और विवाह के बारे में क्यों नहीं लिखते? जो कुछ लिखते हैं उसमें इतनी कृत्रिमता और अत्युक्ति क्यों? होती है? आप कुछ हमारे मन की चीज क्यों नहीं लिखते। इन यांत्रिक साहित्य से हम ऊब गये हैं। हम हँसना चाहते हैं। आप कम से कम हमें ऐसा साहित्य तो दें जो कि पढ़ा जाने लायक हो।"

पाठकों के अलावा लेखकों में तो इस यान्त्रिक व्यवस्था का कड़ा

विरोध हो रहा था यूरी ओलेशा ने लिखा था—"लेखक वही लिख सकता है जो उसकी अनुभूति में हो। उसके बाहर लिखना बेईमानी है। मैं जो अनुभव नहीं करता, वह किसी के आदेश से क्यों लिखूँ ?" वोरोन्स्की ने अपने "लिटरेरी टाइप" नामक निबन्ध में लिखा था—"हम यह चाहते हैं कि हमको घुड़कियाँ न दी जाँय, हम नौकरशाही नहीं बर्दाश्त करेंगे। हमें वैयक्तिक विकास चाहिये। हम अतीत के महान कवियों की परम्परा को समझकर वर्तमान को खुद अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, उधार लिए हुए चश्में से नहीं।" सबसे ज़्यादा तीखी आलोचना लियोनोव की थी। R. A. P. P. के लेखकों की किताबों के लिए वह कहता है—"ये किताबों के ढेर हैं जिनका कोई महत्व नहीं। न इनमें पकी हुई शैली है, न कोई ऊँचाई है और न वह जीवनी शक्ति है जो इन्हें २०, २५ वर्ष भी जिन्दा रक्खे ?" (अपील टु करेज १९३२)

बनी बनाई व्यवस्था बिगड़ गई थी। मैक्सिम गोर्की अभी जीवित था और जब वह सारेन्टो से लौटकर आया तो सोवियट साहित्यिकों की दशा देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। यह वह रूस नहीं था, वह संस्कृति नहीं थी, जिसके लिए उसने अपनी साहित्यिक साधना की थी, जिसके लिए उसने (१०० हार्स पावर का साहित्य) लिखा था। वह सदा से साहित्य में वैयक्तिक स्वाधीनता का हामी रहा। उसी ने १९१८-२२ में सेरेफियन बन्धुओं को प्रोत्साहन दिया था। इस समय उसने आकर परिस्थिति में हस्तक्षेप किया। स्टालिन में यद्यपि लेनिन और गोर्की की तरह साहित्यिक सुरुचि नहीं थी लेकिन भिश्ती की ढाई दिन की हुकूमत के दिन खत्म हो गये थे। आर० ए० पी० पी० भंग कर दिया गया और तानाशाह आवरबाख साहब को बाइज्जत साइबेरिया में भेज दिया गया जहाँ उजाड़ सुनसान में वे आराम से नवयुग का प्रोलेटारियट साहित्य सृजन कर सकें।

२३ अप्रैल सन् १९३२ को कम्यूनिस्ट पार्टी की सेन्ट्रल कमेटी ने

एक प्रस्ताव पास किया और उसके अनुसार इन संस्थाओं को भंग कर एक व्यापक संघ—"सोवियट लेखक संघ" कायम किया गया और उसके लिए एक व्यापक जीवन-दर्शन सामने रक्खा गया। सोशलिस्ट रीयलिज्म—सामाजिक यथार्थवाद—

सोशलिस्ट रीयलिज्म

२३ अप्रैल सन् १६३२ के ऐतिहासिक प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया था कि "वर्त्तमान प्रोलेटेरियट साहित्यक और कलात्पक संघों की सीमा बहुत संकुचित हो गई है और वह सोवियट रूप के कलात्मक सृजन के गम्भीर विकास में बहुत बाधा पहुँचा रही है!" इन शब्दों से स्पष्ट था कि नये रूस के निर्माता इस बात को महसूस कर रहे थे कि प्लेखनाव के विचारों पर आधारित आवरबाख की संकीर्ण रूढ़िवादी प्रगतिशीलता मानव-संस्कृति के विकास में सहायक नहीं सिद्ध हो रही है, साहित्य को अपने पंख फैलाकर ऊँची उड़ानें भरने के लिए ज्यादा विस्तृत आकाश और खुली सुनहली धूप की अपेक्षा है। साहित्य वर्ग-संघर्ष की प्रतिछाया है, उत्पादन के साधनों के विकास का शब्दात्मक, कलात्मक रेकार्ड है, यह संकीर्ण मार्क्सवाद एक आगे बढ़नेवाली जनता, स्वतंत्र राष्ट्र और एक नवीन संस्कृति के निर्माताओं के लिए बहुत छोटी, बहुत संकुचित, बहुत नाकाफी था।

जो नया आधार पार्टी की ओर से पेश किया गया, वह था सामाजिक यथार्थवाद। सोवियट लेखक-संघ के विधान के एक नियम में सामाजिक यथार्थवाद की इन शब्दों में व्याख्या की गई है—"सोवियट कलात्मक साहित्य और साहित्यक आलोचना का आधार सामाजिक यथार्थवाद है। सोवियट यथार्थवाद की माँग है कि लेखक यथार्थ के क्रान्तिकारी पहलू का ठोस इतिहास पर आधारित, वास्तविकतापूर्ण चित्रण करें।"

हमें इस व्यवस्था को बहुत ध्यान से समझना चाहिये। यह

यथार्थ, केवल वह नीरस यथार्थ, वह यथातथ्यवाद, या वह प्राकृतवाद नहीं है जिसका प्रयोग फ्रान्सीसी साहित्य में हो

क्रांतिकारी पहलू

चुका है। यह एक विशिष्ट यथार्थवाद है, कई महत्वपूर्ण विशेषणों से युक्त। सबसे पहले ध्यान देनेवाली चीज है—"यथार्थ का क्रान्तिकारी पहलू!" कलाकार का यह कर्तव्य नहीं है कि वह चीजों को जैसा देखे, एक कैमरे की तरह उसका ज्यों का त्यों चित्रण कर दे। उसको चाहिये कि वह जिस पात्र या जिस परिस्थिति को उठावे उसमें अन्तर्निहित उन क्रान्तिकारी तत्वों को ढूँढ निकाले जो हमेशा से मानवता के इतिहास को बढ़ाने में समर्थ हुए हैं। उसमें वह गहरी पैठ होनी चाहिये कि वह प्रत्येक पात्र और प्रत्येक परिस्थिति को इस विशाल पृष्ठभूमि में देख सके, जहाँ मानवता की करोड़ों साल पुरानी सभ्यता अपने नये कदम उठाया करती है, अपनी नई पगडण्डियाँ बनाया करती है, और उसका हर कदम और उसका हर प्रयोग उसे निरन्तर सत्य, पूर्ण और चरम सत्य की ओर ले जाया करता है।

वह चरम सत्य जिसकी ओर हर युग में मानव बढ़ता आया है, वह केवल संकीर्ण मार्क्सवादियों का वर्गहीन आर्थिक समाज ही नहीं है। करोड़ों साल से सितारों और बादलों से टकराती हुई यह दुनिया, अंगारों पर कदम रख कर बढ़ती हुई यह दुनिया, केवल समान आर्थिक विभाजन की ओर नहीं बढ़ रही है। आज तक दुनिया में महान राज्य क्रान्तियाँ, बड़े-बड़े दार्शनिक प्रयोग, मृणाल तन्तुओं से भी सुकुमार कला, और सितारों से भी ज्यादा पुरानी भावनाओं का उद्भव सिर्फ इसलिए नहीं हुआ था कि समाज का आर्थिक ढाँचा बदले। सत्य का इतना सस्ता, इतना साधारण और इतना छिछला विवेचन अब रूसी साहित्य में नहीं होता। अब रूसी साहित्य का मुख्य विषय, वह चरम जिसकी ओर अब रूसी साहित्य ने अपनी प्रगति पहचानी है, वह है महान मानव का पूर्णतम विकास। सामाजिक, नैतिक,

मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, कलात्मक, दार्शनिक और आध्यात्मिक विकास। यह अवश्य है कि वे रूढ़िगत आध्यात्म में विश्वास नहीं करते, रूढ़िगत नैतिकता में विश्वास नहीं करते, रूढ़िगत मनोविज्ञान में भी विश्वास नहीं करते, लेकिन सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने केवल वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण पन्थ से ऊपर इन व्यापक और स्थायी चीजों का महत्व पहचाना है। इसलिए कि उस व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा समाज में हो, उसके लिए वे सतत प्रयत्नशील हैं। साथ ही साथ किस प्रकार बदलती हुई परिस्थितियों में उस सत्य की स्थापना होती चल रही है इसको पहचानना और उसी के दृष्टिकोण से परिस्थितियों, पात्रों और परिवर्तनों की व्याख्या करना, यह 'क्रान्तिकारी पहलू' के अर्थ हैं।

दूसरा विशेषण है 'ऐतिहासिक'। मायकावस्की के युद्ध-प्रिय भविष्यवाद और प्लेखनाव के संकीर्ण वर्गवाद ने प्राचीन इतिहास से सर्वथा अपना नाता तोड़ लेने के लिए आन्दोलन किया था। लेकिन कोई भी देश, कोई भी जाति, कोई भी सभ्यता या कोई भी साहित्य अपने अतीत से अपने को अलग करने से निर्बल पड़ जाता है। अतीत की गहराइयों में अपनी प्रेरणाओं की जड़ जमा लेने से विद्रोह में करोड़ों गुना शक्ति बढ़ जाती है। जिस सत्य की स्थापना के लिए मानव आज क्रान्ति कर रहा है, उस प्रयास में अपरिपक्वता नहीं क्योंकि उस प्रयास के पीछे मानवजाति का पूरा इतिहास है, करोड़ों साल पुराना इतिहास। अपने नये विद्रोह की सीमा में करोड़ों साल पुराने इतिहास को शामिल कर लेने से कलाकार को बहुत बड़ा संबल मिलता है। सोवियट साहित्य अब सोवियट इतिहास की उपेक्षा नहीं करता, वरन् वह अपने वर्तमान और भविष्य की प्रेरणा और जड़ें अतीत में भी खोज निकालता है। वह पूरे इतिहास की गति को समझता है, यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहता है कि अतीत के किन प्रयोगों ने, किन प्रेरणाओं ने, किन विचारधाराओं ने उस भविष्य के सपने को जन्म दिया है जो हम वर्तमान में देखते हैं।

सोवियट उपन्यासों में प्राचीन ऐतिहासिक नायक फिर वापस आ गये हैं। प्राचीन साहित्यकारों को फिर उठाया जा रहा है और मानव और साहित्य दोनों को अतीत और वर्तमान में खण्डित नहीं कर दिया गया है वरन् एक परम्परागत अखण्ड पूर्णता स्वीकार कर ली गई।

तीसरा विशेषण है ठोस! हम पहले देख चुके हैं कि लियोनोव ने पार्टी द्वारा निर्देशित और प्रोत्साहित उस संकीर्ण प्रोलेटेरियट साहित्य के विरुद्ध आवाज उठाई थी "जिसमें इतना खोखलापन था कि वे २५ वर्ष भी जीवित नहीं रह सकती हैं।" युद्ध के बाद इस आवाज में और भी तेजी आ गई है और निरन्तर सभी आलोचकों की यह माँग है कि सोवियट साहित्य में केवल नारेबाजी न हो, ठोस साहित्य हो जो जिन्दा रह सके और हमेशा अपना उचित स्थान जीत सके।

और यह तभी हो सकता है जब हम साहित्य की प्राचीन परम्परा का आदर करें और प्राचीन परम्परा का पूरा बल लेकर नवीन परिस्थितियों के क्रान्तिकारी पहलू को पहचान सकें। लेकिन इनके अलावा एक चौथा तत्व भी है जिसका उल्लेख सामाजिक यथार्थवाद के सिद्धान्त में है। वह है वास्तविकता। अभी तक प्रोलेटेरियट साहित्य को क्रान्तिकारी साहित्य कहा जाता था लेकिन था वह बिल्कुल अवास्तविक। उसमें परिस्थितियाँ प्रमुख होती थीं और मनुष्य उनके हाथ का खिलौना। उत्पादन के साधनों के आधार पर चरित्रों का निर्माण होता था और पात्रों के अन्तर्जगत से साहित्यकार का कोई परिचय ही नहीं होता था। इसके अलावा संकीर्ण वर्गों में पात्रों को बाँट दिया गया था और यह असम्भव था कि किसी भी सामन्तवादी पात्र में कोई भी मानवीय भावना हो और वह भी असम्भव था कि किसी कम्यूनिस्ट पात्र में कोई भी दुर्गुण हो। सारा प्रोलेटेरियट साहित्य एक कठपुतलियों का तमाशा सा लगता था जिसमें अपने-अपने

वर्ग का लेबिल लगाये हुए भावनाहीन कठपुतलियाँ परिस्थितियों के सूत्र-संचालन पर हिलती-डोलती और नाचती-बोलती थीं। उन पात्रों में कहीं भी उस गहरे अन्तर्जगत का चित्रण नहीं था जिसमें अच्छाई और बुराई, अँधेरा और उजेला, पाप और पुण्य कुल साथ मिला हुआ हो। जहाँ आदमी सोचता है, उठता है, आगे बढ़ता है, फिसलता है, फिर सीखता है, परिस्थितियों को बदलते-बदलते खुद भी बदलता जाता है—मन की इन गहराइयों से आवरबाख के शिष्य प्रोलेटेरियट लेखक, अपरिचित थे। उनके पात्रों में पर्ते और गहराइयाँ नहीं थीं, केवल ऊपरी धरातल था। अनुभूति नहीं थी, केवल उधार के लिये हुए नारे थे और खोखले व्यवहार और कार्य जिनमें उनका व्यक्तित्व नहीं झलकता था, केवल लेखक या तानाशाह आवरबाख के सिद्धान्त और मान्यता झलकती थी। इस खोखलेपन के खिलाफ आवाज उठाई गई और कहा गया कि अन्तर्जगत का भी महत्व है और यही चीज है जो साहित्य को वास्तविकता प्रदान करती है।

लेकिन हमें यह अच्छी तरह ध्यान में रखना चाहिये कि वर्तमान सोवियट साहित्य की धाराएँ इससे कहीं ज्यादा बहुमुखी हैं और वास्तविक प्रयोगों की दृष्टि से आज का सोवियट साहित्य संसार के किसी भी देश से पीछे नहीं है। इस समय साहित्य पर बहुत कम बन्धन हैं। हर लेखक को उतनी ही सुविधाएँ दी जाती हैं और येसेनिन या मायकावस्की जैसी दुर्घटना अब कभी नहीं होती। संक्रान्ति काल में कुछ न कुछ अव्यवस्था हो ही जाती है लेकिन सौभाग्य से रूस को ऐसे शासक मिले हैं जो अपने देश की परिस्थितियों को सम्हालने की ओर ज्यादा ध्यान देते हैं, सिद्धान्तों की रूढ़िवादिता पर कम। इसलिए वे अपने साहित्य को इतने प्रयोगों के बाद भी बचा ले गये।

युद्धकाल में सोवियट साहित्यिक को जितनी सुविधाएँ थीं और सोवियट रूस में जितना ज्यादा और जितना अच्छा साहित्य लिखा गया

उतना शायद किसी भी देश में नहीं। संकीर्ण वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को पहले ही अस्वीकृत कर दिया गया था, जनता या राष्ट्र (narodny) की भावना अधिक प्रमुख हो गई थी। युद्धकाल में देशभक्ति, रूसी जाति की महत्ता; परिस्थितियों की अपेक्षा मानव का ज्यादा महत्व और प्रणय भावना का फिर से निखार : ये सब युद्ध की देन है।

सामाजिक यथार्थवाद काल की स्वाधीनता, और युद्ध के अनुभवों के बाद अब रूसी साहित्य के मुख्य तत्व ये हैं—

* संकीर्ण मार्क्सवाद और यान्त्रिक वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्तों को छोड़कर जीवन के एक अधिक पूर्ण और यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण।

* प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराएँ, और राष्ट्रीयता का पुनर्विकास।

* प्राचीन साहित्यक परम्पराओं की ओर से झुकाव।

* भावनात्मक रोमान्टिक गीत-काव्य का पुनरोदय।

* मनोविज्ञान का पुनर्प्रवेश, लेकिन एक व्यापक मनोवैज्ञानिक भूमि; फ्रायड या अन्य किसी संकीर्ण मतवाद का अन्धानुकरण नहीं।

* शैली के निखार और वाह्य रूप की कलात्मकता पर फिर ध्यान देना।

* सामाजिक व्यवस्था को जीवन की अधीश्वरी न मानकर मानव को परिस्थितियों का स्वामी मानना और समाज या वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति मात्र न मानकर इतिहास का निर्माता मानना; और इसी आधार पर संकीर्ण समाजवाद के बजाय एक नवीन मानववाद का विकास!

इन सभी पहलुओं का विस्तार में अध्ययन करने की जरूरत है, और आगे के अध्यायों में हम इन सभी पहलुओं को एक एक कर देखेंगे। हम यह नहीं कह सकते कि आज रूसी साहित्य जिस व्यापक और उदार मनोभूमि पर खड़ा है, कल भी यहीं रह पायेगा या नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बुरी तरह उलझती जा रही हैं, और सारे पूँजीवादी देश अमेरिका के नेतृत्व में रूस को चकनाचूर कर डालने पर तुल गये हैं। भय, भार और आशंकाएँ मनुष्य को व्यापक और

उदार नहीं रहने देतीं। सम्भव है कि अमेरिका की आक्रमणात्मक नीति रूस को फिर एक बार उतना ही संकीर्ण बना दे, उस हालत में सम्भव है कि स्टालिन एक बार फिर साहित्य को फौलादी शिकंजे में जकड़ ले और फिर साहित्य उसी संकीर्ण मनोभूमि में सीमित हो जाय जिसमें वह प्रोलेटेरियट तानाशाही के जमाने में उलझ गया था।

वैसे रूसी आलोचक अब आशा करता है कि इस स्वतन्त्र और उदार स्तर पर आ जाने के बाद साहित्य में फिर टाल्स्टाय और पुश्किन, गोर्की और चेखव, डास्टावस्की और ब्लाक पैदा होंगे। लेकिन अगर पूँजीवादियों ने कोई भी युद्ध छेड़ा तो इस बार सोवियट साहित्य की इस नई जाग्रत चेतना की भ्रूण-हत्या के जिम्मेवार पूँजीवादी राष्ट्र होंगे, स्टालिन या संकीर्ण मार्क्सवादी नहीं।

प्राचीन, स्थायी और शाश्वत
साहित्य तथा
प्रगतिवादी प्रयोग
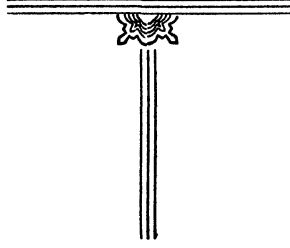
दिसम्बर सन् १९४१ के 'हंस' में एक कविता प्रकाशित हुई थी जिसमें शाश्वत साहित्य का पक्ष लेकर सामयिक साहित्य का विरोध करनेवालों की खबर ली गई थी। कवि ने लिखा था—

तुम कहते हो शाश्वत संस्कृति, शाश्वत हैं कवि के मनोभाव;
पर भूल न जाना परिवर्तन ही एक नियम है बस शाश्वत,
स्थायी रह सकता नहीं नीर हाँ, स्थायी है उसका बहाव !

खैर, हिन्दी में तो कम, रूसी साहित्य में प्रगतिशील धारा के कवियों में एक बहुत बड़ा विरोध, बल्कि अरुचि प्राचीन साहित्य के लिए आ गई थी। मायकावस्की ने लिखा था—

जो कुछ बीत गया है मैं उस सब को शून्य मानता हूँ
मैं कभी, कहीं कोई भी (पुरानी) चीज़ नहीं पढ़ता हूँ
(पाजामा-पोश बादल)

लेकिन आज बीस-तीस वर्ष के प्रयोग के बाद रूस फिर पुराने शाश्वत साहित्य की ओर लौट आया है, और फिर एक बार इस बात का प्रयास हो रहा है कि साहित्य का विषय आज का रूस हो, आज का मानव हो, लेकिन दृष्टि और विषय को उठाने और उसे परिपक्वता

तक पहुँचाने का ढंग केवल अस्थायी और सामयिक न हो, शाश्वत और चिरन्तन हो। क्रान्ति के दिनों में और उसके बाद प्राचीन साहित्य और साहित्य के शाश्वत मूल्यांकन के विरुद्ध जो भयंकर आन्दोलन उठा था वह धीरे-धीरे शान्त हो गया है।

प्राचीन साहित्य के प्रति यह अनास्था और अरुचि मायकावस्की के भविष्यवादी स्कूल में सब से ज्यादा प्रमुख थी। गोर्की में यह बात बिल्कुल नहीं थी। गोर्की अपने दरिद्र और अभावग्रस्त बचपन के बावजूद पढ़ने का बेहद शौकीन था। वह अपनी टीन की छत पर बैठ जाता और चारों ओर घुटते हुए कड़ुये धुएँ में भी एकाग्रचित्त से पढ़ता रहता था। सन् १९२८ में लिखे हुए "मैं कैसे लिखने लगा ?" नामक निबन्ध में उसने दिखाया है कि उसने कितनी छोटी उम्र में ही कितना पढ़ डाला था। स्टेन्डहल, बालजक और फ्लाबर्ट का ऋण तो उसने स्पष्टतः स्वीकार किया है। उसमें मायकावस्की की यह भावना नहीं थी कि—"मैं कभी कहीं कोई भी चीज नहीं पढ़ता हूँ!" गोर्की ने लिखा था—"लेखक जितना पढ़ सके उसे पढ़ना चाहिये, जानना चाहिये, वह जितनी अच्छी तरह प्राचीन से परिचित होगा, उतनी ही अच्छी तरह वह वर्तमान को पहचान सकता है, उतनी ही स्पष्टता और गम्भीरता से वह आधुनिक युग के क्रान्तिकारी तत्वों को समझ सकता है।" एक दूसरे लेख में (१९१४, प्रोलेटेरियत-साहित्य-संग्रह की भूमिका) में भी उसने लिखा था, "एक लेखक को सभी चीजें जाननी चाहिये……तरह-तरह की भावनाओं की उलझी हुई रेखाओं में से उसे वही चीजें चुन लेनी चाहिये जो व्यापक महत्व की हों—लेखक को संकीर्ण, वैयक्तिक और अस्थायी चीजों की उपेक्षा करनी चाहिये क्योंकि ये चीजें निरन्तर परिवर्तित होती रहती हैं और कभी अपना कोई अवशेष प्रभाव नहीं छोड़ जाती हैं।" इससे स्पष्ट है कि वह ऐसा साहित्य, चाहता था जो स्थायी हो, संकीर्ण न हो, निरन्तर परिवर्तित न हो और अपना प्रभाव अपने बाद भी बनाये रक्खे।

मायकावस्की ने प्राचीन साहित्य का जो विरोध किया था उसके मूल में एक संकीर्ण वैयक्तिक 'हीन-मनोभावना' थी। प्राचीन साहित्य का विरोध करने के पीछे यह उद्देश्य कम था कि वह एक महान् नवीन साहित्य का सृजन करे, वरन् उसके पीछे एक चिढ़ और असन्तोष की भावना थी, असन्तोष अपनी कविता से और चिढ़ इस बात से कि लेनिन अब भी पुश्किन और टाल्सटाय का भक्त था, मायकावस्की का नहीं! यह मैं अपने विश्लेषण के आधार पर नहीं कह रहा हूँ। स्वयं उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"बचपन में मैं प्राचीन साहित्य की एक परीक्षा में फेल होते-होते बचा। मेरे मन में सभी प्राचीन वस्तुओं के प्रति घृणा हो गई। सम्भवतः इसी घटना से मेरे मन में भविष्यवाद और नास्तिकता का उदय हुआ।" इसलिए कि वह प्राचीन साहित्य की परीक्षा में असफल हुआ, उसे असन्तोष अपनी असमर्थता के प्रति नहीं हुआ, वर न् प्राचीन साहित्य के प्रति हो गया। कितनी बड़ी अहम्वादी मनोवृत्ति का परिणाम था यह स्पष्ट है। प्राचीन के प्रति मायकावस्की की यह घृणा उन 'संकीर्ण, वैयक्तिक और अस्थायी चीजों' में से थी जिनसे गोर्की ने लेखकों को अलग रहने की सलाह दी थी।

लेकिन उस समय मायकावस्की की इस आवाज का समर्थन एक दूसरे क्षेत्र से हुआ: वह उन आलोचकों का क्षेत्र था जिन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों को कुछ गलत समझा था। उनकी ईमानदारी में हमें कोई सन्देह नहीं लेकिन उनके विश्लेषण में एक व्यापक दृष्टिकोण का अभाव था। यह था पेरेवर्जेव का आलोचना वर्ग जो पोक्रोवस्की का सिद्धान्त मानता था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के जमाने में अवरबाख जिसका मुख्य प्रतिनिधि था। इसके अनुसार साहित्य सर्वथा सामायिक माँगों की पूर्ति का साधन होता है। समाज की तत्कालीन समस्याएँ ही साहित्य का निर्माण करती हैं। उसमें साहित्यकार की व्यक्तिगत देन कुछ नहीं होती। वह केवल अपने समय की समस्याओं

का छायाचित्र मात्र हमें देता है। और समय बीतने के साथ ही वह छायाचित्र भी बेकाम और उपयोगहीन हो जाता है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय इन आलोचकों का और इस आलोचना शैली का बहुत जोर था। आवरबाख के अधीन 'सोशल कमाण्ड' था और वह सामाजिक समस्याओं का जो विश्लेषण करता था, उसीके आधार पर रूस के साहित्यकों को सामयिक साहित्य लिखना पड़ता था। लेकिन सन् १९३० के बाद रूस ने अनुभव किया कि यह संकीर्णता साहित्य के लिए बहुत नुकसान देह है और अन्त में आवरबाख की तानाशाही समाप्त कर दी गई। आवरबाख की विचारधारा को 'वल्गर सोशियालाजी' कहकर पुकारा गया। ('वल्गर सोशियालाजी' का ठीक-ठीक हिन्दी रूपान्तर तो गुण्डा-समाजशास्त्र होगा, लेकिन शिष्टता-वश हम उसे संकीर्ण समाजवाद ही कहकर पुकारेंगे, विशेषतया इसलिए कि हिन्दी की तथाकथित प्रगतिशील आलोचना में अभी गुण्डाशास्त्र के बहुत से तत्व बाकी हैं।)

इस संकीर्ण समाजवादी दृष्टिकोण का मुख्य आधार प्लेखनाव की विचारधारा थी। प्लेखनाव यह नहीं मानता था कि लेखक में भविष्यदर्शिता अथवा आगे आनेवाले सत्यों को पहचान सकने की शक्ति हो सकती है। उसके अनुसार साहित्य का मूल्य सर्वथा सामयिक और वर्गवादी दृष्टि से मापा जा सकता है। उसने अपने 'इतिहास में व्यक्ति का स्थान' में बताया है कि व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता कुछ भी नहीं है। वह केवल इतिहास की लहरों पर बहता हुआ फूल है। जिधर लहरें ले जाती हैं उधर ही वह चला जाता है। इतिहास के व्यक्तियों की महानता केवल इस बात पर आधारित है कि उनके युग में इतिहास एक नया मोड़ ले रहा था और उस मोड़ में वे आगे पड़ गये, लेकिन उनका यह दावा कि उन्होंने इतिहास को मोड़ दिया है यह उतना ही गलत है जितना कि नदी की तेज धार में बहते हुए तिनके का यह दावा कि उसकी तेज रफ्तार उसकी अपनी है। इसलिए

कलाकारों के विषय में भी उसका मत था कि कलाकार की चेतना का निर्माण सर्वथा सामयिक परिस्थिति और उस वर्ग के आधार पर होता है जिस वर्ग में वह पैदा हुआ है। चूँकि अधिकांश कलाकार उच्च-वर्ग के थे, या उस वर्ग के आधार पर पले थे, या उच्चवर्ग का चित्रण करते थे और पूँजीवादी या समान्तवादी युग में पले थे अतः उनका साहित्य इतिहास के इस नये दौर, इस सामान्तवादी युग के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सा है। उसने कलाकार की स्वतन्त्र व्यक्तिगत चेतना को तो सर्वथा अस्वीकार ही किया है—उसके अनुसार 'हरेक कलाकार अपनी रचनाओं में केवल उन मनोवृत्तियों और अनुभूतियों को गूँथ देता है जो उसे अपनी परिस्थिति, अपने पालन-पोषण और अपने वर्ग से मिली हैं। ये अनुभूतियाँ किसी भी स्वतन्त्र वैयक्तिक चेतना पर आधारित न होकर उतनी ही पराधीन और यान्त्रिक ढंग से आने वाली होती हैं जैसे अंगुली कट जाने पर उठनेवाला दर्द। कलाकार केवल अपने वर्ग की अनुभूतियों को उस खजाने में हमेशा के लिए सुरक्षित रखता जाता है जिसे कलाकृति कहते हैं।' यह सामूहिक निश्चयवाद इस सीमा तक पहुँच चुका था कि प्लेखनाव ने लिखा—"कलाकार का कोई व्यक्तिगत दायित्व नहीं। आप उसे न प्रोत्साहित कर सकते हैं न निरुत्साहित। उसकी प्रशंसा या निन्दा करना भी व्यर्थ है। वह वही लिखता है जो उसे लिखना पड़ता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन साहित्य और साहित्य के स्थायित्व के विरुद्ध तर्क-शृङ्खला इस प्रकार है—लेखक अपनी परिस्थितियों से ऊपर नहीं उठ सकता, अपने समय से ऊपर नहीं उठ सकता, अपने वर्ग के ऊपर नहीं उठ सकता। अतः वह कोई ऐसा साहित्य नहीं लिख सकता जो स्थायी हो क्योंकि वह अपने समय से बँधा रहता है, और वह कोई ऐसा साहित्य नहीं लिख सकता जिसकी अपील व्यापक हो, क्योंकि वह अपने वर्ग से बँधा रहता है। यह था सूत्र। इसकी व्याख्या पोक्रोवस्की, आवरबाख और पेरेवर्जव ने यह की

कि सभी प्राचीन साहित्य अब व्यर्थ हैं, क्योंकि वह आधुनिक युग के उपयुक्त नहीं, और सभी लेखकों को सर्वथा सामयिक साहित्य लिखना चाहिये क्योंकि साहित्य के स्थायित्व का स्वप्न नष्ट हो जाने पर वही एक रास्ता बच रहता है, सामयिक साहित्य लिखना। उस सामयिक आवश्यकता और उसके हल का निर्णय भी पार्टी ही कर सकती है, क्योंकि पार्टी ही प्रोलेटेरियट वर्ग की एकमात्र प्रतिनिधि है। अतः प्रगतिशील साहित्यकार को पार्टी के आदेशों पर लिखना चाहिये।

जब रूस में आर० ए० पी० पी० कायम हुई और वह सभी लेखकों पर अपना शासन चलाने लगी, उस समय लेखकों की दिशा बतलाने के लिए। आवरबाख नियुक्त हुआ साहित्य पर सामयिकता का अभिशाप इस बुरी तरह से छा गया, लेकिन फिर भी इस कारखाने में एक भी पुश्किन, टाल्सटाय, चेखव या गोर्की नहीं पैदा हो सका।

स्वयं लेनिन इस नये प्रोलेटेरियट साहित्यकार से बहुत सन्तुष्ट नहीं था। एक बहुत प्रसिद्ध घटना है जिसका हिन्दी में कई बार उल्लेख हो चुका है। लेनिन ने एक नई सोवियत पाठशाला के विद्यार्थियों से पूछा—"तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ कवि कौन है ?" वे बोले "मायकावस्की !" पुराने कवियों के लिए उन्होंने कहा कि वे उन्हें अब नहीं छूते—वे बोर्जुआ थे। लेनिन ने घर पर आकर मादाम क्रुप्सकाया से कहा—"आश्चर्य है ! पर मुझे तो अब भी पुश्किन सर्वश्रेष्ठ लगता है।" लेनिन को पुराने रोमान्टिक साहित्य से बहुत प्यार था। बारबूजे का लाफू, गेटे का फाउस्ट और प्रसिद्ध सौन्दर्योपासक कवि हाइना के गीत उसे बेहद प्यारे थे। एक बार जब वह बीमार पड़ा तो जंगलों की जिन्दगी पर लिखनेवाले जैक लन्डन की पुस्तकें मादाम क्रुप्सकाया से पढ़वा कर सुना करता था। जितने दिनों वह साइबेरिया में रहा, पुश्किन के ग्रन्थ बराबर उसकी चारपाई पर पड़े रहते थे। एक बार क्लारा जेटकिन से उसने कहा था—"नवीन चूँकि केवल नवीन है इसीलिए उसकी पूजा करनी चाहिये, यह बिल्कुल बेमानी बात है !" जहाँ रूस की नई

पीढ़ी इस संक्रान्ति काल में आवेश और संकीर्णता में पड़कर प्राचीन स्थायी साहित्य पर की कीचड़ उछाल रही थी, वहाँ वह पीढ़ी जिसने अपने रक्त और स्वेद से नये रूस का निर्माण किया था—लेनिन और गोर्की जैसे लोग, अपने प्राणपण से प्राचीन साहित्य को बचाने की चेष्टा कर रहे थे।

किन्तु लेनिन की मृत्यु के पश्चात ट्राट्स्की और स्टालिन की प्रतिद्वन्द्विता से रूस में एक विचित्र सी अव्यवस्था आ गई थी। उसी अव्यवस्था में साहित्य के क्षेत्र में उन लोगों को अपनी तानाशाही कायम करने का मौका मिल गया जो प्लेखनाव के अनुयायी थे! १६२६ में आर० ए० पी० पी० नामक एक संस्था कायम की गई जिसका अध्यक्ष आवरबाख था। उसने प्राचीन साहित्य का महत्व मिटा कर नए सामयिक साहित्य को प्रोत्साहन दिया। आवरबाख ने साहित्यिकों की स्वाधीनता को बिल्कुल जकड़ लिया और साहित्यिकों को बाध्य किया कि वे केवल सामयिक घटनाओं पर लिखें और और उसी व्याख्या के अनुसार लिखें जो आवरबाख की व्याख्या हो।

साहित्यकार के स्वाभिमान के लिए यह शिकंजा इतना महँगा पड़ा कि स्वयं मायकावस्की ने इससे ऊबकर आत्महत्या कर ली। बहुत से रूसी लेखक भागकर पेरिस चले आये। रूसी साहित्य का दम घुटने लगा। जब स्टालिन ने देखा कि यह व्याख्या रूसी संस्कृति के लिए कितनी हानिकर है तो उसने इस संस्था को भंग कर दिया और आवरबाख को साइबेरिया भेज दिया।

जब रूसी साहित्यकारों और विचारकों को खुलकर साँस लेने का मौका मिला तो उन्होंने फिर से प्राचीन साहित्य के महत्व को माना और स्थायी साहित्य के सृजन की ओर उनका ध्यान गया। इस सिलसिले में सबसे महत्वपूर्ण विचारक लिफशित्ज है जिसने अपनी एक लेख-शृंखला में प्लेखनाव की संकीर्ण विचारधारा का विरोध किया और उसके पक्ष में उसने मार्क्स का ही सबूत पेश किया।

मार्क्स ने अपनी 'क्रिटीक ऑफ पोलिटिकल इकनामी' में एक स्थान में लिखा था—"इस बात को समझना बहुत मुश्किल नहीं कि ग्रीक तथा अन्य शाश्वत साहित्य सामाजिक प्रगति के डोरों से बँधा हुआ था, लेकिन उलझन इस बात को समझने में पैदा होती है कि इतने दिनों बाद आज भी उनसे उतनी ही रसानुभूति होती है, उतना ही आनन्द मिलता है और अब भी वे कला के इतने ऊँचे आदर्श बने हुए हैं कि उनकी तरह पूर्णता पाना कठिन मालूम देता है।"

दूसरे रूसी आलोचक फ्योडोर लेविन का कहना है कि स्वयं मार्क्स जब प्राचीन साहित्य का आदर करता था और शाश्वत ग्रीक साहित्य को आदर्श मानता था, तो आधुनिक समाजवादियों में शाश्वत साहित्य के प्रति अरुचि आने का मुख्य कारण यह था कि प्लेखनाव के विश्लेषण ने उनके मन में भ्रम पैदा कर दिया था। "प्लेखनाव तथा अन्य संकीर्ण वर्गवादी केवल इसमें व्यस्त थे कि एक वर्ग को दूसरे वर्ग से अलग करते रहें और किसी लेखक को इसकी और किसी को उसकी आवाज साबित करने का प्रयास करते रहें। वह इस बात को सर्वथा अस्वीकार करते थे कि एक लेखक अपने वर्ग के अलावा दूसरे वर्ग को भी जान सकता है, समझ सकता है, उसके बारे में लिख सकता है और उस पर अपना प्रभाव डाल सकता है। सोवियट यूनियन की बीसवीं शताब्दी के छोटे से गज से वह भूतकाल के महान प्रतिभाशाली लेखकों को नापना चाहता है। यह संकीर्ण वर्गवादी प्राचीन स्थायी साहित्य के साहित्यिक और कलात्मक महत्व को बिल्कुल नहीं समझ पाता। स्थायी प्राचीन साहित्य की निन्दा करने में वे उसके सौन्दर्य को समझना सर्वथा भूल ही जाते हैं!" यह शब्द मेरे नहीं हैं। यह रूस के वर्तमान साहित्य के प्रमुख आलोचक फ्योडोर लेनिन के हैं। मार्क रोजेन्थाल ने तो यहाँ तक कहा है कि प्राचीन साहित्य की निन्दा करनेवाले ये "संकीर्ण वर्गवादी वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को समझते ही नहीं हैं।" और लिफशित्ज़ लिखता है कि

"संकीर्ण वर्गवाद की प्राचीन साहित्य की इस अरुचि के पीछे लेनिनवादी नहीं वरन् बोर्जुआ मेनशेविक विचारधारा है।"

लिफशित्ज़ के लेखों का सारांश ही दे देना मैं उचित समझता हूँ। वह लिखता कि "महान रूसी उपन्यासकार टाल्सटाय, दुनिया जिसका लोहा मानती है, वह प्लेखनाव के लिए केवल 'उच्चवर्ग के घोसलों का इतिहास लेखक है।' और उसने उस महान कलाकार को केवल 'धनी कलाकार के मनोविज्ञान' तक उतार दिया है।

"लेकिन लेनिन का दृष्टिकोण सर्वथा दूसरा था। 'भौतिक परिस्थितियाँ और वर्ग-संघर्ष ही मनुष्य की चेतना का निर्माण करते हैं' इस सिद्धान्त का ज्यादा गम्भीर अर्थ उसने ढूँढ़ा था। लेनिन ने टाल्सटाय को केवल इस निगाह से नहीं देखा था कि वह वैभवशाली वर्ग में पैदा हुआ था, या उसने वैभवशाली वर्ग का चित्रण किया था। लेनिन की निगाह में व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि थी। स्वयं लेनिन ने लिखा है कि 'टालस्टाय का महत्व इस बात में था कि उसकी कलम से वह करोड़ों बेजबान जनता बोल उठी थी जिसमें असन्तोष तो था पर अभी विद्रोह कर पाने की आग नहीं धधकी थी।' प्रश्न यह उठता है कि क्या एक धनीवर्ग का, उच्चवर्ग का कलाकार निम्नवर्ग की भावनाओं का चित्रण कर सकता है। क्या वह आगे आनेवाली दुनिया का सन्देशवाहक बन सकता है? क्या वह अपने वर्ग और अपने युग के परे अपने साहित्य का सन्देश विस्तारित कर सकता है।

"प्लेखनाव इसको नहीं स्वीकार करता है। उसके सिद्धान्त में तो केवल एक यान्त्रिक विभाजन है। यदि कलाकार धनी वर्ग में पैदा हुआ है तो वह धनीवर्ग की ही भावनाएँ चित्रित कर सकता है बस!

"अगर शेक्सपीयर ने कहीं पर यह दिखलाया है कि उसके प्रसिद्ध पात्र रोमियो ने कहा है—'टूट जा ओ हृदय! तेरा दिवाला निकल गया है!' इसी दिवाला निकलने के सूत्र पर संकीर्ण वर्गवादी

अपना विश्लेषण शुरू कर देंगे और इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि शेक्सपीयर धनी वर्ग का प्रतिनिधि था और निश्चित तौर से इस शब्द के प्रयोग में वह लन्दन के सौदागरों से प्रभावित था।

"वास्तविकता यह है कि साहित्य का प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी होना लेखक के किसी भी जन्मजात संस्कार पर निर्भर नहीं होता। कोई भी लेखक जन्म से ही प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी नहीं होता। वह धीरे-धीरे अपनी अनुभूतियों के आधार पर प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी बन जाता है। हर लेखक जो महान होता है, अपने युग के प्रगतिशील तत्वों को पहचानता है और उन्हें लेकर आगे बढ़ता है। स्वयं लेनिन ने इसे स्वीकार किया है कि हर महान् लेखक में क्रान्ति के कुछ न कुछ तत्व अवश्य रहे हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि लिफ़शित्ज ने एक बार फिर बजाय वर्ग के लेखक की प्रतिभा और लेखक के व्यक्तित्व की महानता को स्वीकार किया है लेखक केवल अपने वर्ग और परिस्थितियों से निर्मित नहीं होता। उसका विकास अधिक गहरा और एक ज्यादा ऊँचाई के स्तर पर होता है, और उसे वर्गात्मक निश्चयवाद (Class-determinism) के सीमित मापदण्ड से हम नहीं माप सकते। यह स्वयं लिफशित्ज़ का विचार है। लेखक अपने वर्ग से ऊपर उठा हुआ होता है, उसका दृष्टिकोण अधिक व्यापक, अनुभूतियाँ अधिक गहरी, और कल्पना अधिक ऊँची होती है। लिफशित्ज़ एक स्थान पर पुश्किन के लिए लिखता है—"निश्चय ही पुश्किन बोर्जुआ वर्ग का था, लेकिन पुश्किन महान् प्रतिभाशाली व्यक्ति था जब कि बोर्जुआ केवल एक खोखला निष्क्रियवर्ग मात्र था।" अतः लिफशित्ज़ ने फिर यह स्वीकार कर लिया कि कुछ लेखक होते हैं जिनमें महान असाधारण प्रतिभा होती है और वे धीरे-धीरे युग की अनुभूतियों को समेटकर, उनका समन्वय कर, उन्हें क्रान्तिकारी दिशा में मोड़कर युग को अपनी प्रतिभा की महान् देन दे जाते हैं। केवल किसी पार्टी के मेम्बर

या संघ के सदस्य बनने से ही कोई क्रान्तिकारी लेखक नहीं होता और न किसी विशेष वर्ग में पैदा होने से।

अब दूसरा प्रश्न आता है कि क्या हम संकीर्ण वर्ग-संघर्ष की ही कसौटी पर समस्त प्राचीन साहित्य का उचित मूल्यांकन कर सकते हैं? लिफशित्ज़ इसका भी उत्तर 'नहीं' में देता है। वह कहता है "वर्ग-संघर्ष की ही व्याख्या बदलनी पड़ेगी, यदि हम साहित्य को वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर कसना चाहते हैं।" अभी तक रूस में संकीर्ण वर्गवादियों ने जिस तरह वर्ग-संघर्ष की कसौटी पर प्राचीन साहित्य को कसा है, उसका मजाक बनाते हुए वह लिखता है—"स्पष्ट है कि इन संकीर्ण वर्गवादियों की मनोवृत्ति उतनी उदार और व्यापक नहीं है जितनी लेनिन की थी। रूस की पाठ्य पुस्तकों में अनातोले फ्रान्स को मध्यम बोर्जुआ मनोवृत्ति का और रोम्याँ रोलाँ को 'क्षुद्र बोर्जुआ' आदर्शों का लेखक बताया गया है। इन संकीर्ण वर्गवादियों की आलोचनाओं में इस महान प्राचीन साहित्य का बड़ी निर्ममता से विश्लेषण किया गया है। ये लोग केवल अपनी संकीर्ण मनोवृत्तियों में ही सन्तुष्ट हैं और व्यापक दृष्टिकोण से साहित्य का आकलन नहीं करना चाहते। अगर हम उनकी बात का विश्वास करें तो हम इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि दुनिया की सारी कला का इतिहास महज किसी हड्डी के टुकड़े के लिए लड़ते हुए विभिन्न बुद्धिहीन लोगों का इतिहास है।"

अतः लिफशित्ज केवल वर्ग-संघर्ष के संकीर्ण दृष्टिकोण से समस्त महान् कला का विश्लेषण करने का विरोधी है। वह लिखता है—"अक्सर हमारे साहित्य का इतिहास लिखनेवाले बहुत भ्रम में पड़ जाते हैं क्योंकि उसी लेखक के लिए कम से कम २५ या तीस वर्गवादी परिभाषाएँ हैं। अजब सी स्थिति है यह! यह स्पष्ट है जिसके पास जरा सी भी बुद्धि है वह प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में वर्गवाद के सिद्धान्त को मक्षिका स्थाने मक्षिका बिठा सकने में असमर्थ है। यह एक असम्भव काम है। स्वयं मार्क्स ने महान् जर्मन कवि गेटे और

शिलर के विषय में लिखते हुए कहा था—'यहाँ (कविता के देश में) हम राजों और वर्गों की बात ही नहीं कर सकते। यहाँ तो हम केवल उन राज्यों की बात कर सकते हैं जो भविष्य में कभी होंगे !"

अतः लिफशित्ज न केवल कवि या लेखक की व्यक्तिगत व्यापक और महान् समन्वयकारी प्रतिभा का अस्तित्व स्वीकार करता है वरन् वह संकीर्ण वर्गवादी विश्लेषण का भी कला के क्षेत्र में निषेध करता है। उसका कहना है कि वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा कला-क्षेत्र में वर्ग सम्मिश्रण अधिक महत्वपूर्ण है। कई वर्ग आपस में उलझे होते हैं। कलाकार उनमें से सभी के वह तत्व ढूँढ़ निकालता है जो ज्वलन्त, प्रकाशमान और स्थायी होते हैं और इसलिए किसी भी प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते वक्त हमें केवल इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इसमें कौन चीज जीवित और स्थायी है और कौन चीज मरणशील और स्थायित्वहीन ! कौन सी वस्तु आगे आनेवाले भविष्य में जीवित रहेगी और कौन सी चीज जीवित न रह सकेगी।

स्पष्ट है कि इस प्रकार लिफशित्ज़ ने न केवल वर्ग-संघर्ष की संकीर्ण पृष्ठभूमि में साहित्य को तौलने का निषेध किया है वरन् वह साहित्य को सामयिक भी नहीं बनाना चाहता। वह कुछ ऐसे तत्व साहित्य में चाहता है जो सूर्य बनकर जगमगाते रहें, जो तूफान के झोंकों में बुझ न जायँ। इसका पूरक सिद्धान्त निश्चय ही यह होगा कि आधुनिक साहित्य चाहे वह सामयिक समस्याओं को लेकर ही क्यों न हो, लेकिन वह केवल 'सामयिक' न हो उसमें जिन्दा रहने की ताकत हो।

रूस के आधुनिक आलोचकों में आधुनिक प्रगतिवादी साहित्य के खिलाफ कुछ इस तरह की शिकायतें सुनाई पड़ने लग गई हैं। युद्ध के बाद सन् १९४५ में प्रथम मई को प्रकाशित "डरो मत" शीर्षक एक लेख में ट्रेवलीन नामक नाटककार ने लिखा है—"युद्ध के दौरान में लिखे गये रूसी साहित्य में कई जगह जीवन के ज्वलन्त चित्रण हैं।

आग, गुस्सा और प्यार अक्सर छलक आया है, लेकिन अधिकतर इन चार वर्षों में बहुत कुछ ऐसा मसाला इकट्ठा हो गया है जिसमें कोई मौलिकता नहीं। कविता, गद्य और नाटक सभी में बहुत गम्भीर समस्याओं को बहुत छिछले स्तर से समझने का प्रयास किया है। १९४३ की थियेट्रिकल कान्फ्रेंस में यह कहा गया था कि स्टालिनग्राड के मोर्चे के विषय में कम से कम १० नाटक लिखे गये थे, लेकिन हमें यह अफसोस है कि उनमें से एक भी नहीं बचा। क्या इसका कारण बतलाने की जरूरत है? स्पष्ट है कि वह साहित्य नहीं था वे कलात्मक या काव्यात्मक कृतियाँ नहीं थीं.........यह इतना स्पष्ट है कि अपनी कमजोरियाँ हमें छिपानी नहीं चाहिये। इससे हमारा रास्ता और भी स्पष्ट होने में मदद मिलेगी।"

ट्रेवलीन का यह वक्तव्य बहुत महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि रूस के साहित्यिक और कलाकार अब स्पष्ट समझ रहे हैं कि किसी भी कलाकृति के महान होने के लिए केवल प्रगतिशीलता का ट्रेडमार्क काफी नहीं है। केवल इसलिए कि कोई भी कलाकृति किसी राजनीतिक विषय पर है, इसलिए वह महान होगी, यह गलत है। सबसे बड़ी बात यह है कि कला को स्थायी होना चाहिये।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामयिक रचनाओं का महत्व होता है प्रसिद्ध रूसी लेखक इलिया एहलेनबर्ग ने लिखा है कि अगर एक क्षण में किसी राष्ट्र का भाग्य निर्णय होने जा रहा है तो लेखक को यह जानना चाहिये कि वह उस क्षण के लिए क्या लिखे। ठीक है, लेकिन मानवता का भाग्य निर्णय क्षणों में नहीं युगों में होता है। हमें स्पष्ट विभाजन कर देना चाहिये। पत्रकार क्षणों के लिए लिखे, साहित्यकार युगों के लिए। आज का रूसी साहित्यकार भी इसी नतीजे पर पहुँचा है। समस्या चाहे कुछ हो, लेकिन रचना में नारेबाजी ही केवल न हो, स्थायित्व हो, व्यापकता हो। वह हर वर्ग के लोगों का हृदय छू सके। हर युग के लोगों का हृदय छू सके।

साहित्य की अपील वर्ग की सीमाओं से ऊपर होती है यह बहुत सीमा तक रूसी साहित्यकारों ने भी पहचान लिया है। लिफशित्ज और केमेनाव ने तो 'वर्ग साहित्य' की अपेक्षा राष्ट्रीय साहित्य की आवाज बुलन्द की। वर्ग के स्थान पर राष्ट्र—(Narodny) ही प्रमुख हो गया। केमनेव ने शेक्सपीयर को बजाय किसी एक वर्ग के सभी वर्ग का कवि, राष्ट्र का कवि बताया है। ए० गस्टीन ने यद्यपि लिफशित्ज की प्रत्यालोचना अपने 'समाजवादी यथार्थवाद की समस्याएँ' शीर्षक लेख में की है, उसने भी अधिक से अधिक राष्ट्रीय साहित्य की अपेक्षा जन-साहित्य को प्रमुख बतलाया है, किन्तु वर्ग साहित्य की संकीर्ण धारणा के वह भी विरुद्ध है।

इस समय रूस में सभी प्राचीन साहित्यकारों का आदर हो रहा है। सभी राष्ट्रीय परम्पराओं और प्राचीन कलाओं का उद्धार किया जा रहा है। प्राचीन वस्तुओं को राष्ट्रीय सम्पत्ति समझा जाता है और उनका सम्मान किया जाता है। वह केवल साहित्य में ही सीमित नहीं है, चित्रकला में प्राचीन रूसी चित्रकार रेपिन और सुरिकाव को फिर से उठाया गया है और उन्हें चित्रकला का आदर्श माना जा रहा है। युद्ध-कला में प्राचीन योद्धा सुवराव और कुटूजाव को आदर्श माना जाता है। प्राचीनता के प्रति कितना प्रेम रूसियों में बढ़ गया है यह १६४५ में ज्नाम्या के ६वें अंक में प्रकाशित ए० बुसेव के 'युद्ध और स्थापत्य कला' शीर्षक लेख में कहा गया है—'कान्स्ट्रक्टिविज्म भद्दी और बुरी शैली है। कान्स्ट्रक्टिविज्म यानी नई इमारतों की शैली...... हम लोगों को अब पुरानी सुन्दर शैलियों की ओर लौट चलना चाहिये।''

अब तो ऐसा लगता है जैसे जार के रूस और स्टालिन के रूस का ऐतिहासिक और परम्परात्मक भेद समाप्त हो गया। रूसी जनता अपनी और अपने इतिहास की मूल एकता पहचान गई है। यही नहीं वरन् अब पुश्किन को राष्ट्रीय कवि मान लिया गया है और

उसकी जयन्ती मनाई जाती है और जिस मायकावस्की ने लिखा था कि वह कुछ भी प्राचीन पढ़ना नहीं चाहता, उसने उसी पुश्किन की जयन्ती पर लम्बी चौड़ी कविता लिखी थी, जिस पुश्किन की संकीर्ण वर्गवादियों ने बोर्जुआ कहकर निन्दा की थी।

विदेशों के उच्च और स्थायी साहित्य का भी रूसी जनता आदर करती है, और शायद अंग्रेजी को छोड़कर किसी भी राष्ट्र की भाषा में उच्च विदेशी साहित्य के इतने अनुवाद न मिलेंगे जितने रूसी भाषा में। सैमुएल मारशाक ने लगभग समस्त अंग्रेजी गीत-साहित्य का अनुवाद कर डाला होगा। महान रूसी कवि पेस्टरनाक ने शेक्सपीयर का अनुवाद कर डाला है। लिवक ने कोलरिज जैसा रहस्यवादी कवि उठाया है। प्रसिद्ध ग्रामीण स्काटिश प्रेम-कवि राबर्ट बर्न्स तो रूसियों को बहुत प्यारा है। आज रूसी लोग बहुत ही स्पष्ट स्वरों में यह स्वीकार करते हैं कि प्राचीन महान् लेखक ही उनके आदर्श हैं। १६४६ में लेखक-संघ के सभापति की हैसियत से टिखानाव जो स्वयं किपलिंग का भक्त है लोगों को सलाह देता है कि वे शेक्सपीयर की कला को अपना आदर्श मानें।

यही कारण है कि आज रूस में यद्यपि गोर्की और टालस्टाय जैसे महान लेखक नहीं है, पर वे लोग निराश नहीं हैं। उन्होंने सभी संकीर्णताओं की जंजीरों को तोड़ डाला है। अपनी प्राचीन परम्परा की विशृंखल कड़ियों को फिर से सँवार लिया है और सभी तरह के वर्गवाद से ऊपर उठकर अब वे व्यापक सत्य के उस स्तर पर पहुँच गये हैं जहाँ युग-युग का साहित्य लिखा जा सकता है। इसीलिए उनके साहित्य में वह निराशा नहीं जो पश्चिम के साहित्य में है। वे जानते हैं कि इस युद्ध ने रूस की आत्मा को निखार दिया है, रूस को नया बल और नई दिशा दी है। नई व्यापक दृष्टि और उदार चेतना दी है। उनका पूरा विश्वास है कि "युद्ध के बाद का रूसी साहित्य कुछ और ही होगा। नैपोलियन के युद्ध के बाद टालसटाय और

डास्टावस्की आये थे, युद्ध के बाद फिर कोई नई प्रतिभा आयेगी" (श्कोलोवास्की)। अभी रूसी साहित्य में वह महान् कलाकार नहीं आया है, लेकिन भविष्य का वह महान् कलाकार आयेगा, और अवश्य आयेगा यह रूसी जनता का विश्वास है और मेरा भी लेकिन हमें यह याद रखना चाहिये कि रूस इस भविष्य की महान् कला का सपना तभी देख सका जब वह प्राचीन और स्थायी के महत्व को समझ गया, और जब वह देश और काल की सीमा में बंधकर ही नहीं रह गया—जब रूस एक व्यापक और स्थायी साहित्यिक स्तर पर उठ गया और उसने वृत्त पूरा कर लिया और घूम-फिरकर फिर इसी सिद्धान्त पर आ गया कि कला युग-युगों की एक स्थायी चीज है; एक चिरन्तन निर्माण है जो न कभी बूढ़ा होगा, न कभी मैला पड़ेगा।

क्या प्राचीन राष्ट्रीय इतिहास पर लिखा गया साहित्य पलायनवादी है ?
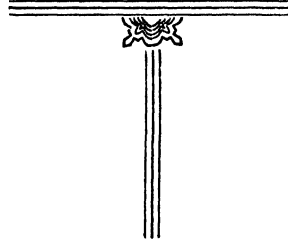
किसी भी देश का इतिहास उसकी स्थायी सम्पत्ति होता है। किसी जाति की संस्कृति उन विगत ऐतिहासिक प्रयोगों का समन्वय है जो अतीत काल में होते रहे हैं। संस्कृति "संस्कार" शब्द से ही बनी है। जिस दिन से मानव ने दो पैरों पर चलना सीखा तभी से उसने परिस्थितियों से लड़ना और युगों का निर्माण करना शुरू कर दिया। हर युग में असत्य के किसी न किसी अंश से वह लड़ता रहा और सत्य के किसी न किसी अंश को प्रतिष्ठित करता गया। युगों की धूपछाँह से गुजरती इस लम्बी यात्रा की हर मंजिल, उस जाति को नये सत्यं शिवं और सुन्दरं के संस्कारों को देती गई और उन्हीं संस्कारों से समन्वित जातीय जीवन को हम किसी देश की संस्कृति कहकर पुकारते हैं। जिस देश का इतिहास सत्य के प्रयोगों में सब से ज्यादा सम्पन्न होता है, उस देश की संस्कृति उतनी ही महान् होती है। जिस देश की संस्कृति जितनी ही महान् और प्राचीन होती है वह देश अपने को उतना ही गौरवान्वित और सशक्त समझता है; और बदलती हुई परिस्थितियों में, बदलते हुए युगों में, वह अपने को उतना ही शान्त और शक्तिशाली बनाये रखने का प्रयास करता है क्योंकि उसका इतिहास इतना पुराना है। उसकी चेतना और संस्कृति में जाने कितने युग आये और मिटे, उस देश के महान् ऐतिहासिक व्यक्तियों

ने कितने युग बनाये और मिटाये, और अपने प्राचीन इतिहास के महान् प्रयोगों की स्मृतियों को पुनर्जीवित कर वह देश फिर अपने में ताकत बटोरता है और अपने को किसी बहुत बड़े और नये प्रयोग के लिए तैयार करता है।

हिन्दी साहित्य के छायावादी युग के महानतम कलाकार प्रसाद ने भी अपने नाटकों में इसी उद्देश्य से इतिहास की पृष्ठभूमि उठाई थी, और उन्होंने हमारे सामने भारतीय इतिहास के वे युग रक्खे जिनमें हमारे प्राचीन युगपुरुषों ने नये युग बनाये थे और पुराने युग मिटाये थे, उन्होंने हमारे सामने वे महान् प्रयोग रक्खे जिनमें भारतीय राष्ट्र की संस्कृति के छिन्न-भिन्न होते हुए तारों को फिर से गूँथने का प्रयास किया गया था, जिनमें राष्ट्र ने अपने आपसी भेदभाव भुलाकर विदेशी शोषकों के विरुद्ध लड़ाई ठानी थी और मानवता के खिलाफ अत्याचार करनेवाले क़दीमी फैसिस्टों के जहरीले दाँत तोड़े थे।

लेकिन इसके बावजूद भारतीय प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रसादजी को पलायनवादी माना है और अपने सिद्धान्त की व्याख्या यों की है कि प्रसादजी ने वर्तमान परिस्थितियों का समुचित समाधान न खोज पाकर प्राचीन इतिहास के स्वर्ग में अपनी चेतना को डुबो दिया। पहले तो ऐसा लगता था कि शायद हिन्दी के प्रगतिवादी लेखक केवल वर्तमान की ही समस्याओं को साहित्य के लिए उपयुक्त समझते हैं और अतीत का उनके लिए कोई महत्त्व नहीं है। वे प्राचीन इतिहास से अपना सारा सम्बन्ध ही तोड़ लेना चाहते हैं।

किन्तु बाद में हमने देखा कि स्वयं राहुलजी ने भी ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। उस समय प्रगतिवादी आलोचना में यह स्वर सुनाई पड़े कि प्राचीन इतिहास के चित्रण में हमें केवल बड़े-बड़े राजाओं के वैभवशाली महलों का, रोमान्टिक प्रेम-कथाओं का साम्राज्य के लिए युद्धों का ही चित्रण नहीं करना चाहिये। हम इतिहास के जिस युग को भी उठावें तो उसके वर्ग-संघर्ष की परिस्थितियों का चित्रण करें।

उच्चवर्ग के शासकों या राजकुमारों के बजाय, उस समय के निम्न वर्ग का और उनमें सुलगती हुई वर्ग-संघर्ष की चिनगारी का चित्रण करें। राहुल ने कुछ और उपन्यास लिखे और यशपाल ने दिव्या लिखी। वे उपन्यास कितने सफल हैं, इसकी जाँच हमारे क्षेत्र के बाहर है। मैं आपको केवल यह बताना चाहता हूँ कि रूसी सोवियट साहित्य इन दोनों संकीर्ण मान्यताओं को अस्वीकृत कर चुका है। न वह प्राचीन इतिहास को त्याज्य मानता है और न इसी सिद्धान्त में विश्वास करता है कि प्राचीन इतिहास को राष्ट्रीयता की दृष्टि से न देखा जाकर केवल वर्ग-संघर्ष की दृष्टि से देखा जाना चाहिये। रूस ने प्राचीन इतिहास के राष्ट्रीय प्रयोगों के आधार पर वर्तमान संस्कृति का विश्लेषण और भावी संस्कृति के निर्माण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया है।

सन् १९१२ के लगभग रूसी साहित्य में जो फ्यूचरिस्ट आन्दोलन चल पड़ा था, उसका यह आग्रह था कि प्राचीन को—अतीत को बिल्कुल भूल जाना चाहिये। मायकावस्की ने सभी प्राचीन इतिहास और साहित्य के विरुद्ध एक निर्मम युद्ध घोषित किया था। उसकी तथा उस समय के प्रमुख मार्क्सवादी विचारकों की दृष्टि में, वर्तमान युग के लिए प्राचीन इतिहास का कोई महत्व नहीं था, नये युग के लिए एक सर्वथा नवीन कला, नवीन इतिहास और नवीन व्यवस्था की आवश्यकता थी। सामयिक समस्याओं पर लिखने की माँग इतनी अधिक बढ़ गई थी कि इतिहास के पन्ने उलटने में किसी भी लेखक को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। फिर भी सन् १९२० के लगभग कुछ ऐतिहासिक उपन्यास छपे थे। ओल्गाफोर्श ने अपना 'ब्लड इन स्टोन' नामक उपन्यास १९वीं शती के कुछ क्रान्तिकारियों के विषय में लिखा था। इसी प्रकार डिसम्बरिस्ट क्रान्तिकारियों के विषय में 'खुखल्या' और लेखक ग्रिबोयेडोव के जीवन पर 'डेथ ऑफ वजीर मुख्तार' नामक उपन्यास निकाला था।

लेकिन राष्ट्रीय इतिहास पर उपन्यास न लिखे जाने का मुख्य

कारण यह था कि उस समय भी उन संकीर्ण मार्क्सवादियों की प्रधानता थी जो इतिहास में राष्ट्रीय संस्कृति के विकास को महत्त्व न देकर केवल उत्पादन के साधन, वर्ग-संघर्ष और राज्य-व्यवस्था को महत्व देते थे। उनका नेता था पोक्रोवस्की (१८६८-१९३२)। वह जी० यू० एस० (सोवियट विद्वत्परिषद) और नारकाम्प्रास (जन-शिक्षा-विभाग) का अध्यक्ष था। वह दुनिया का महानतम मार्क्सवादी इतिहासज्ञ कहा जाता था और सोवियट शिक्षा और सोवियट साहित्य में इतिहास के प्रयोग के विषय में उसकी आवाज सबसे ऊँची थी। उसका 'रूस का संक्षिप्त इतिहास' सर्वोत्तम ग्रन्थ माना जाता था। वह इतिहास को केवल आर्थिक उत्पादन के परिवर्तनों की छाया मात्र मानता था और हर घटना की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के आधार पर करता था। न वह इतिहास के राष्ट्रीय पक्ष को स्वीकार करता था और न किसी भी देश के इतिहास में व्यक्तियों का महत्व स्वीकार करता था। वह प्लेखनाव का अनुयायी था और प्लेखनाव के सिद्धान्त को वह अपनी व्याख्याओं में बहुत यान्त्रिक सीमाओं तक खींच ले गया था।

लेकिन जैसा पहले बताया जा चुका है, १९३२ के लगभग आवरबाख की साहित्यक तानाशाही को स्टालिन ने खत्म किया। लगभग उन्हीं दिनों पोक्रोवस्की के यान्त्रिक इतिहास-विज्ञान का मरसिया भी पढ़ा गया। १९३१ में सेन्ट्रल कमेटी के एक प्रस्ताव के अनुसार इतिहास को स्कूलों में राजनीति से अलग एक स्वतन्त्र-विषय बनाया गया। १९३४ में दूसरे प्रस्ताव के द्वारा इतिहास के आर्थिक पक्ष के अलावा व्यापक सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टिकोण पर भी ध्यान देने की आवश्यकता बताई गई है। उसी वर्ष स्टालिन, ज़्डैनाव और किराव ने मिल कर रूसी इतिहास पढ़ाने की शैली की व्याख्या करते हुए एक पुस्तक लिखी। १९३६ में सेन्ट्रल कमेटी ने एक प्रस्ताव में स्पष्ट कहा कि पोक्रोवस्की का ऐतिहासिक दृष्टिकोण,

इतिहास का बहुत गलत रूप हमारे सामने रखता है। १९३८ में जब बोल्शेविक पार्टी का अधिकारिक इतिहास लिखा गया तो उसके साथ वाले प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया—"इतिहास के अध्ययन में अभी तक पोक्रोवस्की के समूह ने बहुत गलत और मार्क्स विरोधी व्याख्या प्रस्तुत की थी। पोक्रोवस्की को ऐतिहासिक भौतिकवाद का जरा भी ज्ञान नहीं था। उसने प्राचीन इतिहास की व्याख्या वर्तमान परिस्थिति के आधार पर की है, जो बिल्कुल गलत है!" और जब इससे भी सन्तोष न हुआ तो बहुत से लेखकों के, पोक्रोवस्की के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखे गए लेखों का पूरा संग्रह ही छपवाया गया।

पोक्रोवस्की के विरुद्ध किया जानेवाला यह आन्दोलन इसलिए आवश्यक था कि सोवियट रूस इतिहास को एक नए रूप में समझना चाहता था और आर्थिक उत्पादन और वर्ग-संघर्ष के अलावा इतिहास का राष्ट्रीय और यथार्थ दृष्टिकोण अपनाना चाहता था जिसमें समाज और व्यक्ति, वर्ग और राष्ट्र दोनों का सापेक्ष और सन्तुलित महत्व हो।

साहित्य में यह चेतना सबसे पहले सन् १९३० में आई। अलेक्सी टाल्सटाय ने 'पीटर महान्' नामक उपन्यास का पहला भाग लिखा। 'पीटर महान्' में इतिहास की व्याख्या वर्गवादी और आर्थिक आधार पर न कर, उदार और व्यापक राष्ट्रीय आधार पर की गई थी। उस समय तक आबरवाख की प्रोलेटेरियट तानाशाही बरकरार थी। संकीर्ण मार्क्सवादी व्याख्या की सीमाएँ इस उपन्यास के द्वारा टूटते हुए देखकर आवरबाख ने अपने फौलादी पंजे फैलाये। स्वयं अलेक्सी टाल्सटाय ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—" 'पीटर महान्' जब रंगमंच पर खेला गया तभी आर० ए० पी० पी० ने उसका विरोध किया। उसके बाद स्वयं कामरेड स्टालिन ने हस्तक्षेप किया और पीटर के युग की सही-सही व्याख्या पेश की।......जब दो साल बाद आर० ए० पी० पी० भंग कर दिया गया तब अपने आप मेरी विरोधी

आलोचना खत्म हो गई और तब शान्ति से मैं अपनी सारी शक्ति साहित्यिक कार्यों में लगा सका।' उन्हीं दिनों शैपीजिन ने स्टेंका-रेजिन नामक उपन्यास लिखा जिसमें १७वीं सदी की पृष्ठभूमि थी। कोस्त्येलेव ने भी "मिनिन एण्ड पजरस्की" नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा। उपन्यास के अलावा पीटर महान्, अलैक्जेण्डर नेव्स्को और सुवरोव पर ऐतिहासिक सिनेमा चित्र भी बने।

ऐतिहासिक उपन्यासों और सिनेमा चित्रों के अलावा राष्ट्रीयता का समावेश दूसरे क्षेत्र में हुआ। आलोचना के क्षेत्र में भी राष्ट्रीय कवियों का महत्व स्थापित हुआ और कवि को बजाय अपने वर्ग के, अपने राष्ट्र का प्रतिनिधि माना गया। सन् १९३७ में पुश्किन की शताब्दी मनाई गई और दो उपन्यास भी उसके जीवन पर लिखे गये। एक तो था ग्रासमैन का 'डेथ आफ पोएट' और दूसरा था यूजिन का 'पुश्किन इन साउथ !'

युद्ध ने राष्ट्रीयता के आन्दोलन को पूर्णतया परिपक्व बना दिया। रूस और जर्मनी में युद्ध छिड़ने के समय तो अवश्य स्टालिन ने उसे लोक-युद्ध बताया, लेकिन ज्यों-ज्यों जर्मन लोग मास्को के समीप पहुँचते गये त्यों-त्यों वह युद्ध 'राष्ट्रीय अस्तित्व' का युद्ध बनता गया। उस समय बिना एक राष्ट्रीयता का आधार लिये रूस की जीत होना असम्भव था। ऐसे संकट के समय में आदमी को तर्क या सिद्धान्त बल नहीं देता, उस समय उसे भावना ही बल देती है। एक व्यापक समझौता और राष्ट्रीयता की धधकती हुई भावना ही उस समय रूसी सेना का बल कायम रख सकती थी। अनुदार मार्क्सवाद के पंजे ढीले किये गये, जुखोव जैसे अ-मार्क्सवादी को जेनरल बनाया गया। ज्यों-ज्यों युद्ध की भयंकरता बढ़ती गई त्यों-त्यों यह स्पष्ट हो गया कि यह अन्तर्राष्ट्रीय प्रोलेटेरियट का नहीं, रूसी राष्ट्र का युद्ध था। इसके लिए मार्क्सवाद नहीं वरन् देशभक्ति ही ढाल बन सकती थी। ७ नवम्बर सन् ४१ में जब मास्को जर्मनी से

घिर रहा था उस समय महान् नेता स्टालिन ने अवसर की उपयुक्तता समझकर अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा था—"अलैक्जेण्डर नेव्स्की, डिमिट्री डान्स्की, मिनिन और पोजार्स्की, सुवारोव और कुटुजोव—हमारे इन महान् पूर्वजों की आत्माएँ इस महायुद्ध में हमें प्रेरणा देंगी।"

किस प्रकार 'प्राचीन पूर्वजों की आत्माओं' ने महान् रूस राष्ट्र को बल दिया यह इससे स्पष्ट है कि रूस के इतिहास के बहुत बदनाम मगर शक्तिशाली पात्र 'इवान भयंकर' को नये रूप में साहित्य और चित्रों में पेश किया गया। अभी तक इवान को एक भयंकर अत्याचारी शासक माना जाता था, लेकिन 'इवान भयंकर' के चित्र के निर्माता आइसेन्स्टीन ने कहा—"उसका महान् चरित्र जर्मनों द्वारा गलत ढंग से चित्रित किया गया था। जर्मन हमारे स्थायी दुश्मन हैं, और जो कुछ हमें प्रिय है उसे विकृत करने के लिए हमेशा उत्सुक रहते हैं!" अलेक्सी टाल्स्टाय ने 'इवान भयंकर' पर जो नाटक लिखा उसकी भूमिका में लिखा—"जर्मनों ने हमारे महान् देश का जो अपमान किया है उसके विरोध में मैं यह नाटक लिख रहा हूँ। अपने क्रुद्ध अन्तःकरण को युद्ध के लिए सन्नद्ध करने के लिए मैं इवान भयंकर की महान् आवेशमयी रूसी आत्मा का आह्वान करता हूँ।"

भारत के प्रगतिवादी आलोचक जो शायद स्टालिन से ज्यादा बड़े मार्क्सवादी हैं और अलेक्सी टाल्स्टाय से ज्यादा प्रगतिशील हैं, उन्हें प्रसादजी के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों में पलायनवाद दिखलाई दिया था, हालाँकि उनके पितृदेश के लेखकों ने अपने देश की आजादी की लड़ाई में अपने राष्ट्रीय इतिहास का पूरा उपयोग किया। अगर रूस 'इवान भयंकर' की आत्मा का आह्वान करता है तो यह 'लोकयुद्ध' हुआ और यदि भारत 'चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु' का आह्वान करता है तो यह पलायनवाद हुआ। आँखों पर चढ़ा हुआ मानसिक गुलामी का चश्मा कभी-कभी ऐसे ही करिश्मे दिखलाता है।

राष्ट्रीयता की भावना की इस पुनर्स्थापना में आर्थिक पहलू की प्रधानता नहीं थी। वैसे हम खींच-तान कर चाहे राष्ट्रीय भावना की वर्गवादी व्याख्या कर लें, लेकिन वास्तविकता यह है कि राष्ट्रीय भावना किसी भी देश की सम्पूर्ण जनता में होती है। इस दृष्टि से जनता अविभाज्य है, जहाँ पर राष्ट्र का प्रश्न आता है जनता अपने को वर्ग में न बाँटकर, अपने को एक समझती है और दृढ़ बनती है। इसीलिए इधर सोवियट आलोचना में वर्ग के स्थान पर जन, राष्ट्र या 'नैरोद्नी' शब्द इस्तेमाल होने लगा है। गर्स्टीन और लिफशित्ज ने भी जन-साहित्य, राष्ट्रीय साहित्य या 'नैरोद्निक' साहित्य लिखने का आग्रह किया है। हमें याद रखना चाहिये कि 'नैरोद्निक' शब्द टाल्सटाय का प्रिय शब्द था। यद्यपि कालान्तर में रूस के कुछ जमींदारों ने मिलकर 'नैरोद्निक' पार्टी बनाई थी जो एक प्रतिक्रियावादी दल था, और बोल्शेविकों को क्रान्ति करने के लिए उनसे काफी कड़ा मोर्चा लेना पड़ा था। तब से 'नैरोद्निक' शब्द जरा बदनाम सा हो गया था, क्योंकि इस चरम प्रगतिशील नाम के पीछे चरम प्रतिक्रियावादी दल था, (जैसे जनता पार्टी के भेष में मुस्लिम लीग) लेकिन धीरे-धीरे रूसी आलोचकों ने इस शब्द का महत्व पहचान लिया और अब वे लोग प्रोलेटेरियट वर्ग का साहित्य न लिखकर अपने 'जनगण' का साहित्य लिखते हैं।

इस राष्ट्रीय साहित्य और विशेषतया इन ऐतिहासिक उपन्यासों का मुख्य लक्ष्य है अपनी उस प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा का पुनरुद्धार, जिसके बल पर आज के सोवियट राष्ट्र की शक्ति और प्रतिभा आधारित है। यान जो स्वयं ऐतिहासिक राष्ट्रीय उपन्यासों का लेखक है, लिखता है—"हमारे देश के लोगों का अतीत, विशेषतया महान् रूसी लोगों का अतीत, ऐतिहासिक उपन्यासों के महान् कथानकों का अमूल्य खजाना है। अपने अतीत के ही द्वारा आज की रूसी जनता का मनोविज्ञान और चरित्र समझ सकते हैं। इसीलिए आज

के युग में लिखा जानेवाला राष्ट्रीय ऐतिहासिक उपन्यास वर्तमान से भागना नहीं है। वर्तमान और यथार्थ को अधिक गहराई से समझने का प्रयास है।"

मैं यह जानना चाहूँगा कि जिन भारतीय प्रगतिवादियों ने ऐतिहासिक कथानक अपनाने के कारण प्रसादजी को पलायनवादी बतलाया है उनके पास उपरोक्त उद्धरण का क्या जवाब है? क्या रूस के साहित्यिक भी पलायनवादी हो रहे हैं? क्या प्रगतिवाद केवल प्रगतिशील लेखक-संघ और जनप्रकाशन गृह की सीमाओं तक ही बँधकर रह गया? मेरी राय में भारत के प्रगतिवादियों को ठंडे दिल से यह सोचना चाहिये कि यह संकीर्णता दिखलाकर उन्होंने किसका नुकसान किया। भारतीय जनता की महान् प्राचीन राष्ट्रीय परम्पराओं को पलायनवाद बतलाकर उन्होंने जनता का कितना बड़ा अपमान किया है। और तिस पर तुर्रा यह कि आप अपने को जनता का कलाकार साबित करने के लिए गला फाड़-फाड़कर जमीन-आसमान एक कर रहे हैं।

अब तो यह भी आरोप व्यर्थ है कि प्रगतिवादी ऐतिहासिक कथाओं में केवल जनता का चित्रण होना चाहिये। महान् सामन्तवादी राजाओं या नेताओं का नहीं। 'इवान भयंकर' 'पीटर महान्', 'जनता' नहीं थे। हाँ, यह अवश्य है कि रूसी साहित्य में प्राचीन राष्ट्रीय नेताओं को वर्गनायक नहीं, जननायक दिखलाया गया है। वे जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपने वर्ग की भावनाओं का नहीं।

प्रसादजी ने भी तो यही किया था। उनका 'स्कन्दगुप्त' जनता की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता था। सामन्त वर्ग का प्रतिनिधत्व करनेवाले तो महाराज कुमारगुप्त और पुरगुप्त तथा अनन्तदेवी थीं। प्रासादजी ने स्कन्दगुप्त को ही विजयी दिखाया है। जनता प्रतिक्रियावादी भटार्क और पुरगुप्त से भी लड़ी और विदेशी हूणों से भी। मालवानरेश ने भी अपने राज्य को महान् भारत संघ में विलीन

कर दिया था। इन सबके पीछे कितना बड़ा राष्ट्रीय महत्व था! बौद्धों और ब्राह्मणों के झगड़ों में उन्होंने साम्प्रदायिक समस्या का उल्लेख किया था, लेकिन फिर भी प्रसादजी पलायनवादी थे, क्योंकि उनकी बदकिस्मती से और समूचे राष्ट्र की बदकिस्मती से ऐसे प्रगतिवादी आलोचकों ने इस पुण्यभूमि में अवतार लिया जिन्हें भगवान ने भाषा का वरदान दिया मगर समझदारी से उनका परिचय कराना भूल गए थे।

सोवियट आलोचक, सोवियट विचारक, सोवियट लेखक और सोवियट शासक यथार्थदर्शी हैं और स्वतन्त्र जाति के गौरव के अनुरूप अपने देश को प्यार करते हैं। उन्होंने केवल सिद्धान्तवाद के पीछे न पड़कर वास्तविक समस्याएँ सुलझाईं। सोवियट संघ में एक देश नहीं वरन् बहुत से देश शामिल हैं। उनकी भाषाएँ, संस्कृतियाँ, जातीय परम्पराओं में भारत की जातियों और प्रान्तों से भी अधिक विषमताएँ थीं। एक केन्द्रीय राज्य का सशक्त संगठन करना उस समय बहुत आवश्यक था। इसलिए उस समय के ऐतिहासिक चित्र निर्माताओं और ऐतिहासिक उपन्यास लेखकों ने रूस के इतिहास का वह पहलू उठाया जिसमें युगों के दौरान में रूसी केन्द्रीय राज्य सत्ता का निर्माण, दृढ़ीकरण और स्थापना दिखलाई गई थी। कैसे केन्द्रीय रूसी राज्य बना, कैसे उसे अखण्ड और अविभाज्य रक्खा गया। 'इवान भयंकर' चित्र के निर्माता आइसेन्स्टाइन ने तो स्पष्ट लिखा—"प्राचीन रूस जंगली लोगों का देश नहीं था। इवान के नेतृत्व में वह जाग्रत पश्चिमी राष्ट्रों की तरह एक आधुनिक देश बन रहा था। इस चित्र के बनाने के समय मेरे मन में बराबर यह था कि मैं रूसी राज्य की वह शक्ति दिखलाऊँ जो आज नहीं वरन् कई युग पहले से चली आ रही है। अपने चित्र के अन्तिम दृश्य में मैंने इवान का शानदार दरबार इसी उद्देश्य से दिखलाया है········चित्र का लक्ष्य है रूस की महान् शक्ति का प्रदर्शन। इस तथ्य का प्रदर्शन कि इस शक्ति की जड़ इतिहास में गहरी जमी हुई है।"

प्रसादजी ने अपने चन्द्रगुप्त में चाणक्य को इसी रूप में चित्रित किया है। चाणक्य वह महान राष्ट्रनायक है जो भारत की केन्द्रीय सत्ता को दृढ़ करना चाहता है, इसीलिए मगध में विद्रोह कराकर, कहीं कूटनीति से, कहीं किसी प्रकार से वह जनता को प्रतिक्रियावादी कायर शासकों से मुक्ति दिलाकर चन्द्रगुप्त की अध्यक्षता में एक सशक्त राज्य कायम करता है। लेकिन बक़ौल हमारे प्रगतिवादी दोस्तों के, यह पलायनवाद है, चूँकि यह एक रूसी लेखक ने नहीं, भारतीय लेखक ने लिखा है।

अपने राष्ट्रीय ऐतिहासिक उपन्यासों में रूस ने युद्ध के विषय भी उठाये हैं। चूँकि यह साहित्य अधिकतर युद्धकाल में लिखा गया था, अत: प्राचीन राष्ट्रीय युद्धों में रूसी सैनिकों की वीरता दिखलाना आवश्यक था। जार के पुराने योद्धा सेनापतियों की वीरता इन उपन्यासों में चित्रित की जाने लगी। सन् १९१६ में प्रथम महायुद्ध में लड़नेवाले जेनरल ब्रुसिलोव पर स्लेस्किन ने एक उपन्यास लिखा है और स्लेविन्स्की ने एक नाटक। इसी काल को लेकर गोलुबव ने 'आग की दीवार' तथा ओल्गाफार्श ने 'अजेय नगर' लिखा है। क्रान्ति के समय इस युद्ध को साम्राज्यवादी, प्रतिक्रियावादी, पूँजीवादी युद्ध बताया गया था, लेकिन अब इसीको राष्ट्रीय युद्ध स्वीकार किया गया है।

यहाँ तक कि प्रथम रूसी-जापानी महायुद्ध जिसे सारी दुनिया ने जार का साम्राज्यवादी युद्ध स्वीकार किया है और जिसमें छोटे से एशियायी राष्ट्र जापान ने महान् रूस के दाँत खट्टे कर दिए थे, उसी युद्ध को लेकर स्टेपानाव ने 'पोर्ट आर्थर' नामक उपन्यास १९४४ में लिखा, महज इसलिए कि उन दिनों फिर जापान और रूस में दुश्मनी थी।

लेकिन यह सचमुच ही राष्ट्रीयता को एक गलत ओर ले जाना है। जहाँ तक राष्ट्रीयता और प्राचीन इतिहास के द्वारा हम अपने देश की

संस्कृति की परम्परा और सौन्दर्य को समझ सकते हैं वहाँ तक राष्ट्रीयता बहुत मूल्यवान है, लेकिन जहाँ उदार राष्ट्रीयता की भावना संकीर्ण जातीयता में परिणत होने लगती है और एक जाति अपने को श्रेष्ठ समझकर दूसरी जाति को नीची निगाह से देखने लगती है वही एक खतरनाक वस्तु बन जाती है। रूस के बहुत से लेखक इस गलत दिशा की ओर बढ़ते जा रहे हैं। वे जर्मनी और जापानियों पर अपना जातीय प्रभुत्व सिद्ध करना चाहते हैं। आइसन्स्टाइन ने लिखा था कि "जर्मन हमारे स्थायी दुश्मन हैं और जो कुछ हमें प्रिय है उसे विकृत करने का सदा प्रयास करते रहते हैं!" यह दृष्टिकोण, यह द्वेष गलत है। युद्धकाल का सर्वप्रिय लेखक इल्या एहरेनबुर्ग तो और भी अधिक तेज है—६ मार्च सन् १९४३ के लेख में वह लिखता है—

"हम लोग अधिक गम्भीर, अधिक दृढ़ हो गए हैं। हर रूसी सिपाही आज एक निर्णायक है जो अपने फैसले को सुफ़ेद बर्फ पर काले जर्मन खून से लिख रहा है। हम लोगों ने अपनी फौजी बोतलों से नफरत का जहर पी लिया है जिसमें शराब से ज्यादा तेज नशा है।

"चाँद अपनी हरी जहरीली रोशनी बर्फ पर बिखेर रहा है। जर्मनों की लाशों पर चाँदनी नाच रही है। जर्मन कुचल दिये गए हैं, पीस दिये गये हैं!"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तीखी भावनात्मक प्रेरणा के बगैर लाल सेना इतनी बहादुरी नहीं दिखला पाती, जर्मनों के नृशंस अत्याचार के बाद इतना तीखा गुस्सा सहज और स्वाभाविक ही था, लेकिन बाद में एक सन्तुलनशील दृष्टिकोण की भी आवश्यकता थी।

स्टालिन ने इसे महसूस किया। युद्ध समाप्त होने के बाद, बर्लिन पर कब्जा होने के बाद, जर्मनी का पुनर्निर्माण प्रारम्भ करते समय स्टालिन ने एहरेनबुर्ग को अपना स्वर बदलने की सलाह दी और एहरेनबुर्ग ने महसूस किया कि किसी भी देश की जनता से घृणा करना गलत है। घृणा उस शासक वर्ग से करनी चाहिये जो उस जाति

को बहका रहे हैं। एहरेनबुर्ग १९४५ के वसन्त तक इसी प्रकार के जर्मन विरोधी लेख लिखता रहा। सहसा 'प्रवदा' में प्रचार-विभाग के अध्यक्ष जी० ए० एलैक्जेन्ड्राव का एक लेख प्रकाशित हुआ, "साथी एहरेनबुर्ग की अतिशयोक्तियाँ!" उसके बाद इल्या एहरेनबुर्ग का स्वर बहुत बदल गया।

अभी हाल में मास्को के 'न्यू टाइम्स' में एहरेनबुर्ग ने एक लेख लिखा है—'शान्ति का सितारा'। उस लेख में उसने अमेरिका और इंगलैण्ड के प्रतिक्रियावादी नेताओं की बुराइयाँ की है लेकिन जनता के लिए लिखा है—"मुझे पूरा विश्वास है कि जिस जनता के पीछे इतनी शानदार राष्ट्रीय परम्परा हो, वह जनता कभी भी सत्य से ज्यादा दिन दूर नहीं रह सकती!"

यह उदार राष्ट्रीयता जो अपने गर्व के साथ-साथ दूसरों का सम्मान भी पहचानती है, हर जाति के लिए एक गौरव की चीज होती है और महान् रूसी जाति के लिए भी यह राष्ट्रीयता दृढ़ता और गौरव की चीज है। यह रूस की संस्कृति और प्रतिष्ठा को बल और प्रेरणा देगी। अन्त में मैं केवल इतना निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जिस व्यापक और उदार सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का महत्व रूस ने युद्ध के बाद पहचाना है वह महान् सन्देश प्रसादजी ने अपने नाटकों में युद्ध के वर्षों पहले ही दुनिया के सामने रख दिया था। उनकी राष्ट्रीयता और देशभक्ति तो इतनी विशाल और व्यापक थी कि उन्होंने स्कन्दगुप्त में कहा है—

"भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेमपाश में आबद्ध है। अनादिकाल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है।"

प्रगतिवाद और रोमाण्टिक प्रेम
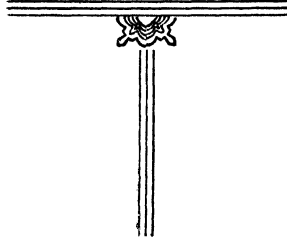
कहते हैं आदमी की जिन्दगी की सब से बड़ी ट्रेजेडी यह होती है कि वह अपनी विभिन्न प्रवृत्तियों में एक स्वस्थ सन्तुलन नहीं कर पाता। किसी की कल्पना इतनी प्रमुख हो जाती है कि वह उसके यथार्थ की तीलियों को झकझोर कर तोड़ डालना चाहती है, और किसी का यथार्थ इतना संकीर्ण हो जाता है कि कल्पना को अपने फौलादी पंजे में मसल देना चाहता है। आदमी के व्यक्तित्व के अंश हमेशा एक दूसरे के विरुद्ध तलवार लेकर खड़े रहते हैं और एक दिन ऐसा आता है कि आदमी का असन्तुलित व्यक्तित्व ही आदमी के सीने में तलवार भोंक देता है।

जो बात एक व्यक्ति के लिए सत्य है, वही बात एक साहित्य, एक संस्कृति, एक सभ्यता के लिये सत्य है। एक अवसर ऐसा होता है कि एक सभ्यता की विभिन्न प्रवृत्तियाँ आपस में असन्तुलित हो उठती हैं, एक दूसरे के विरुद्ध हो उठती हैं और उनके अन्तर्द्वन्द्व से युग की चिन्तना के रेशे आपस में उलझ जाते हैं। विशेषतया जब किसी भी सांस्कृतिक परम्परा के अन्तराल में कोई क्रान्ति भावना धीरे-धीरे पकती रहती है, उस समय अक्सर देखा गया है कि क्रान्ति के आकस्मिक विस्फोट के कारण विचार-धाराओं का सन्तुलन टूट जाता है और उसकी दिशाएँ बहुत ही अस्पष्ट हो जाती हैं। उस समय अक्सर देखा जाता है कि

यथार्थ और संघर्ष की माँग होती है कि केवल एक युद्ध-प्रवृत्ति (मिलिटैन्टिज़्म) ही रहे और संस्कृति, साहित्य और कला के सभी सुकुमार अंगों को कुचल दिया जाय। इतिहास में जब कभी अव्यवस्था और अराजकता का युग आया है तो किसी न किसी रूप में एक नैतिकतावाद (प्योरिनिज़्म) की प्रवृत्ति उभर आई है और उसने प्रेम तथा सुकुमार अनुभूतियों पर आधारित कला का घोर विरोध किया है। इंगलैण्ड में क्रामवेल के युग में भी एक प्योरिटन वातावरण छा गया था जिसमें एलिजाबेथ काल के रंगीन रोमाण्टिक साहित्य का विरोध हुआ था। उसके स्थान पर चर्च की नीरस नैतिकता की स्थापना ही कला का उच्चतम लक्ष्य मान लिया गया था। भारतीय पुनर्जागरण के आरम्भिक दिनों में भी आर्यसमाज ने प्योरिटन दृष्टिकोण से कृष्णकाव्य की निन्दा की थी, केवल इस आधार पर कि कृष्ण के जीवन में हास-विलास और प्रणय की प्रधानता है।

इस प्योरिटनिज्म का सब से ताजा और दिलचस्प उदाहरण हमारे देश के प्रगतिवादियों की रोमाण्टिक प्रेम-भावना के खिलाफ उठाया गया जिहाद है। आज प्रगतिवादी दल की यह माँग है कि नारी को हम प्रोलेटेरियट क्रान्ति की संगिनी के रूप में स्वीकार करें, लेकिन उसके प्रति रोमाण्टिक भावना से लिखी गई सारी कविता और साहित्य महज पलायनवाद और प्रतिक्रियावाद है। प्रेम की कविता कहाँ तक उचित है, मार्क्सीय क्रान्ति के ऊषाकाल में, इस विषय को लेकर प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक डा० रामविलास शर्मा और डा० नगेन्द्र के बीच पत्रिकाओं में अच्छी प्रतिद्वन्द्विता चल चुकी है। यह बात दूसरी है कि लगभग प्रत्येक तथाकथित प्रगतिशील कवि ने अपनी अनुभूति से लाचार होकर विशुद्ध रोमाण्टिक प्रेम-गीत लिखे हैं। अंचल का तो कहना ही क्या? वे तो प्रेम-गीतों ही में मुखर हो पाते हैं, शिवमंगल-सिंह सुमन वगैरह ने भी अपनी लाचारी के क्षणों में प्रेम गीत लिखे ही हैं, लेकिन यह बात दूसरी है कि अपने बीच में चाहे जो हो किन्तु

अपने दल के बाहर दिखाने का जो चेहरा है उसमें प्रेमगीतों का स्थान नहीं ही है।

लेकिन सच बात यह है कि प्रेम-भावना, और उसका हल्का, सूक्ष्म और रोमानी स्वरूप, न आज तक मर पाये हैं, न मर पाएँगे। यह एक शाश्वत भूख है। एक ऐसी भूख है जो न कभी बुझ पाई है, न कभी बुझ पायेगी। वह एक ऐसा फूल है जो लहरों के थपेड़े खाकर भी लहरों के सर पर मुकुट की तरह चढ़ा रहता है।

सोवियट साहित्य भी अपनी क्रान्ति के बावजूद, अपनी प्योरिटनिज्म के बावजूद रोमािण्टक प्रेम-भावना की हत्या नहीं ही कर सका। यह बात दूसरी है कि वहाँ क्रान्ति के बाद के दिनों में रोमाण्टिक प्रेम-काव्य का बहुत तीखा विरोध हुआ और उसकी वजह से वहाँ के सब से मधुर और रोमाण्टिक कवि येसेनिन को आत्महत्या कर लेनी पड़ी, किन्तु अन्त में फिर आज रोमाण्टिक प्रेम रूसी कविता को जीत बैठा है। किस तरह सोवियट रूसी साहित्य में संकीर्ण मार्क्सवादियों ने रोमाण्टिक प्रेम को देश-निर्वासन दिया और फिर किस तरह अन्त में उन्हें उसी भावना के सामने आत्मसमर्पण करना पड़ा, यह एक बड़ी अनोखी कहानी है।

हम पहले देख चुके हैं रूसी क्रान्ति के पहले रूसी साहित्य पर फ्रान्स के पतनोन्मुख साहित्य का पूरा प्रभाव था। रूसी कवि फ्रान्सीसी कवियों की नकल करते थे। वे जीवन से दूर एक निरासावाद की दुनिया में रहते थे। १६०५ की क्रान्ति साहित्य में भी एक नया जागरण ले आई और एक तरुण प्रतीकवादियों का समूह आया जिसने पतनोन्मुखता के बजाय एक आवेशमयी रहस्यवादिता अपनाई। लेकिन लेनिनग्राड के कवियों ने रहस्यमयी शैली का विरोध किया और उन्होंने सरल और स्पष्ट शैली में शब्द-चित्रों के सहारे अपने को अभिव्यक्त करने का मार्ग अपनाया। जैसा हम बता चुके हैं कि गुमिलाव के नेतृत्व में एकमीस्ट वर्ग आया और उसी की एक शाखा इमेजिस्ट कहलाई जिसका मुख्य कवि येसेनिन था।

येसेनिन उस समय का सब से जनप्रिय कवि था। जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, उसकी कविता प्रतिक्रियावादी नहीं थी, उसमें मधुराई छलकी पड़ती थी और उसकी भाषा क्वार के बादलों की तरह हल्की-फुल्की उजली और मासूम थी। लेकिन उस अभागे का कसूर सिर्फ इतना था कि वह राजनीति की दासता नहीं स्वीकार करना चाहता था। उसका कसूर यह भी था कि वह केवल पार्टी का हुक्म छन्दबद्ध नहीं करता था, वरन् अपनी स्वतन्त्र अनुभूतियों पर आधारित मधुरतम रोमाण्टिक गीत भी लिखता था।

उसके खिलाफ उन लेखकों का एक दल उठ खड़ा हुआ जो उस समय एक सैनिक शुद्धतावाद (मिलिटैण्ट प्योरिटनिज़्म) का पक्षपाती था। उसके विरोध में सब से प्रमुख हाथ था फ्यूचरिस्ट दल का जिसका प्रमुख कवि था मायकावस्की।

मायकावस्की एक नये मशीनयुग का कवि था। जैसा हम देख चुके हैं कि वह प्राचीन साहित्य, मधुर साहित्य, प्रेमकाव्य सभी के विरुद्ध था। सौन्दर्योपासना, रूप की खुमारी, गीतकाव्य तथा इस तरह की सभी 'बोर्जुआ मनोवृत्तियों को वह हथौड़े के एक प्रहार में चूर चूर कर देना चाहता था। गुलाब, मलयज, तितलियाँ, चमकती धूप, शबनम और इन्द्रधनुष ये सब बेकार की चीजें थीं जिन्हें वह नई प्रॉलेटेरियट जनता के जीवन से निकालकर मास्को के कूड़ेखाने में फेंक देने का हामी था। वह खानों के अँधेरे, मशीनों के फौलाद और शहरों की भीड़ का कवि बनना चाहता था—उसने एक स्थान पर लिखा है—"मैं उसको कवि नहीं मानता जो बड़े-बड़े बाल रखकर चायघरों में प्रणय की कविताएँ मिमियाता फिरता है। कवि वह है जो श्रेणी-संघर्ष के इस विप्लवी युग में सर्वाहारा वर्ग के शस्त्रागार में अपनी कलम भी सौंप देता है और हर नीरस काम में लगने के लिए तैयार रहता है, वह किसी से भी नहीं डरता चाहे वह आर्थिक प्रस्ताव बनाता हो, या कोई घोषणापत्र!" सन् १९१५ में ही लिखी गई अपनी एक

कविता—"कवि-बंधु" में वह कहता है—

"श्रीमान् कवियो,
क्या तुम नहीं थके ?
इन महलों, राजकुमारियों, प्रेम और नरगिस के गुच्छों से ?
अगर जैसे तुम हो
वैसे ही कलाकार होते हैं,
तो मैं कविता पर थूकता हूँ
इसके बजाय मैं एक दूकान खोलना
या दलाली करना अधिक
पसन्द करता हूँ !"

तीन साल बाद सन् १८ में लिखी गई अपनी एक कविता—"कला की फौज के नाम एलान" में उसने लिखा—

"साथियो,
चलो मोर्चे पर !
वही सच्चा कम्यूनिस्त है
जो (प्यार की दुनिया में) वापस जाने का पुल भी तोड़ दे
....

अपने गीत को बम की तरह विस्फोटक बनाओ
क्योंकि हमें एक रेलवे गोदाम को उड़ाना है......"

मायकावस्की एक कवि और एक कम्यूनिस्ट सैनिक में कोई अन्तर नहीं समझता था। कविता को वह महज युद्धक्षेत्र का एक नया हथियार मानता था। और इसीलिए प्रेम का तो उसकी निगाह में कोई मूल्य नहीं था। १९२२ के लगभग मायकावस्की विश्व-भ्रमण के लिए गया और वहाँ से लौटकर तो उसने स्पष्ट लिखा—

"मैं चाहता हूँ कि कलम बन्दूक बन जाय
व्यापारों में कलम का भी शुमार लोहे में हो
और जब पालिट ब्यूरो की सभा हो

तो उसका प्रथम विषय रहे
'कविता के उत्पादन पर मार्शल स्टालिन
की रिपोर्ट !'

× × ×

मैं नहीं चाहता कि मैं एक एकान्त का फूल बनूँ
जिसे कि काम के बाद थकान के क्षण में कोई तोड़ ले

× × ×

मैं अनुभव करता हूँ कि मैं (कवि) एक सोवियत कारखाना हूँ
जो आनन्द को लोहे में ढालता है—"

(घर की ओर—जहाज पर–१९२५)

क्रान्ति के बाद के पुनर्निर्माण के जोश में मायकावस्की एक दूसरी ही सीमा पर चला गया। प्यार के खिलाफ यह प्रतिक्रिया और कविता को यन्त्रों का एक पुर्जा बना देने की बात से बहुत से रूसी लेखक सहमत नहीं थे। उसी समय लियोनाव ने ऊपर दी हुई कविता की अन्तिम पंक्तियों को ध्यान में रखते हुए लिखा था—"आनन्द और कविता किसी भी कारखाने में किसी बने बनाये साँचे में नहीं ढाले जा सकते!" लेकिन उस समय क्रान्ति के नक्कारों में बुद्धि और सन्तुलन की आवाज दब गई थी, भावना ने अपने मिसरी जैसे सूखे और प्यासे होठों से जिन्दगी को और गहराई से सोचने की सलाह दी थी, लेकिन फौजी बूटों के नीचे वह आवाज कुचल दी गई। सोवियत सेना निस्सन्देह मायकावस्की के साथ थी और मायकावस्की पर जान देती थी। कितना जनप्रिय हो गया था वह यह एक घटना से मालूम होता है। वह सिपाहियों की एक परेड में अपनी कविता पढ़ रहा था। उसने कहा—

"आगे बढ़ो
हमारी पलकों में है लेनिन का सपना
हाथों में रूसी बन्दूक............"

और भीड़ में से एक सिपाही चिल्ला उठा—

"और दिल में हमारे है कविता तुम्हारी

ओ कामरेड मायकावस्की.........."

लेकिन मायकावस्की की इस जनप्रियता के बावजूद रूसी कविता से प्रेम सर्वथा निर्वासित नहीं हो पाया था। भावना ने अपना दम नहीं तोड़ दिया था। कीट्स ने एक जगह लिखा है—

"जब तेज धूप से चिड़ियाँ बेहोश हो जाती हैं

और पत्तों की ठण्डी छाँह में हाँफती हुई छिपी रहती हैं

उस वक्त चरागाह में झाड़ी से झाड़ी में एक लयभरी आवाज दौड़ जाती है।

धरती की कविता कभी खामोश नहीं रह सकती........."

और नई मशीनों की गड़गड़ाहट, बन्दूकों की आवाज, गृहयुद्ध और राजनीतिक उथल-पुथल के उस युग में भी प्रेम-गीत रूस के वातावरण में गूँजते ही रहे। इन प्रेम-गीतों का रचयिता था—सर्जी येसेनिन......

वह साधारण जनता के बीच से ऊपर उठा था। एक साधारण किसान के घर में पैदा होकर एक ग्राम-पाठशाला में पढ़ा था। बस, केवल इतनी ही उसकी शिक्षा थी। १९ वर्ष की अवस्था में वह सेन्ट-पीटर्सबर्ग में आ गया और वहीं १९१६ में पहली बार उसकी कविताओं का संग्रह छपा। उसमें अद्वितीय प्रतिभा थी और हृदय को छू लेने की अद्भुत क्षमता। वह गाता था तो जैसे रूस का हृदय, रूस की धरती गा उठती थी। वह रूस के हरे-भरे खेतों पर नीलम के पंख फैलाकर उतरनेवाली पावस सन्ध्या का गायक था, वह जौ की बालियों से ज्यादा दुबली-पतली सुकुमार रूसी कन्याओं के दोशीजा रूप का गायक था, वह खेत, खलिहान, गाँव की डगर और चौपालों की छाँह में पलनेवाले रूसी किसान की मदभरी, सुकुमार और करुण अनुभूतियों का गायक था।

उसने पहले क्रान्ति का स्वागत किया। वह समझता था कि यह क्रान्ति गाँवों के शोषण को नष्ट कर गाँवों में फिर सौन्दर्य और शान्ति बिखेर देगी—उसने रूस के नये भविष्य का कितना उज्ज्वल चित्र खींचा था यह उसके "ट्रान्सफिगुरेशन थर्ड" नामक कविता से मालूम होता है—

"एक नया किसान,
खेतों में घूम रहा है
नये बीज क्यारियों में डाल रहा है
नये घोड़ों के रथ पर
बादलों के पार से
एक ज्योतिर्मय आगन्तुक आ रहा है
अश्वों की लगाम,
आसमान के फीतों की है।
उन फीतों में घण्टियाँ हैं सितारों की..................."

लेकिन जब क्रान्ति के बाद रूसी साहित्य का सन्तुलन नष्ट हो गया, सहसा मजदूर वर्ग, लाल सेना और मायकावस्की के अनुयायी सभी भावनात्मकता को नष्ट करने के लिए कमर कस कर तैयार हो गये तो येसेनिन का सपना टूट गया। वह मशीनों का और फ्यूचरिस्टों के नये फौलादी काव्य का स्वागत नहीं कर पाया। यह तो ठीक है कि अगर येसेनिन चाहता कि मशीनें गाँवों में जायें ही न, तो यह गलत माँग होती, लेकिन उस वक्त का फौलादी जीवन-दर्शन और अव्यवस्था उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाई थी और न नये क्रान्तिकारियों ने अपना सन्तुलित दृष्टिकोण किसी के सामने ही रक्खा था। वास्तविकता यह थी कि वे स्वयं अपना एक सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं बना पाये थे। उन्होंने एक नई दुनिया जीती थी और उस विजय ने उन्हें इतना बेहोश कर दिया था कि वे प्रतिक्रिया-स्वरूप जीवन के दूसरे छोर पर जा खड़े हुए थे और मायकावस्की और येसेनिन के दृष्टिकोणों में दो ध्रुवों का अन्तर आ पड़ा था।

येसेनिन अकेला था—केवल उसके साथ खेतों का हराभरा सपना था, और धरती का आशीर्वाद। लेकिन जब वह अपने युग में बहुत निराश हो गया तो उसने शराब पीनी शुरू की और शराब के प्याले में अपनी भयंकर निराशा डुबो देने की कोशिश की। उसने आइसडोरा डन्कन से विवाह किया और अमेरिका घूमने चला गया, लेकिन रूस की धरती से उसकी साँसों के तार बँधे थे। वह फिर लौट आया। लेकिन वह अच्छी तरह जानता था कि सोवियट विचारधारा में उसका कोई स्थान नहीं था। इसके दो मुख्य कारण थे—

प्रेम की कविताएँ अधिकतर गीतों में लिखी जाती थीं और नये सोवियट विचारकों की निगाह में गीतों का युग बीत चुका था। उन लोगों का कहना था कि जिस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के आधार पर गीतों का निर्माण होता है उसकी परिधि इतनी छोटी है कि उसमें हम नई समाजवादी दुनिया का चित्रण नहीं कर सकते। आज की नई व्यवस्था में कवि को अपनी व्यक्तिगत अनुभूति से ऊपर उठकर सामाजिक सत्यों का निरूपण करना चाहिये। यहाँ तक कि सन् १९३३ में ज्वेज्दा में बैगरिट्ज्की की कविताओं की आलोचना करते हुए स्टेपानाव ने लिखा है—"प्रेम-गीत अब समाप्त हो रहे हैं। कवि के व्यक्तिगत जीवन के आधार पर लिखे गये प्रेम-गीत इतने संकीर्ण और इतने भावनात्मक और वैयक्तिक होते हैं कि वे वर्तमान सामाजिक जीवन का चित्र नहीं खींच सकते। यह धीरे-धीरे स्पष्ट हो गया है कि अपने युग के बारे में, पूरी आवाज से बोलने के लिए, और महाकाव्यों के पुनर्निर्माण के लिए हमें गीत-काव्य के नशे से निकलना होगा। इस जादू को तोड़ना ही होगा।"

एक ओर जहाँ प्रेम-काव्य की गीत-शैली के विरुद्ध यह आवाज उठ रही थी, दूसरी ओर उस भावनात्मक प्रेम को ही गलत साबित करने का प्रयास हो रहा था। नारी और पुरुष के आपसी संबन्ध को भी सर्वथा आर्थिक रंग देने का प्रयास हो रहा था और उनके सम्बन्ध

के भावनात्मक पहलू को उठाकर पीछे फेंक दिया गया था। भावना और उपासना, विस्मृति और नशे में डूबे हुए प्रेम को मार्क्सवादी अनुचित और प्रतिक्रियावादी बतलाते थे। उन्होंने प्रेम को केवल आर्थिक सम्बन्ध का भावानात्मक पहलू मान लिया था। इस विषय में क्रिस्टोफर काडवेल का विश्लेषण सबसे दिलचस्प है—उसका कहना है—हमारे सामाजिक (आर्थिक) सम्बन्धों का भावनात्मक पहलू ही प्रेम है। प्रेम चाहे जितना महत्वपूर्ण हो, लेकिन आर्थिक उत्पादन से परे उसका कोई महत्व नहीं।

हरेक युग की आर्थिक व्यवस्था ही इस बात का निश्चय करती है कि उस युग में प्रचलित प्रेम-भावना का क्या स्वरूप होगा। ग्रीस के समाज में जहाँ गुलामी प्रचलित थी। वहाँ प्रेम का स्वरूप प्लेटानिक था, सामन्तवादी युग में जब आपसी लड़ाई झगड़ों का चलन बहुत ज्यादा था, तब रूमानी प्रेम प्रचलित था। पूँजीवादी युग में बहुत आवेश, तीखी प्यास और व्यक्तिवादी प्रेम का प्राधान्य होता है। चूंकि पूँजीवादी शोषण के बाद विवाह बहुत ही ज्यादा खर्चीला हो जाता है अतः लोग एक विचित्र प्रकार के कल्पनात्मक प्रेम में डूब जाते हैं, जिसमें बहुत अतृप्त होती है, बहुत तृष्णा होती है, बहुत विरह और दुःख होता है, लेकिन यह सब इसीलिए कि आर्थिक और भावनात्मक जीवन में एक दरार पड़ गई है, पूँजीवादी युग में। इस नये युग में हमें आर्थिक पहलू को फिर से पहचानना है और प्रेम का मूल्यांकन पुराने बोर्जुआ भावनात्मक दृष्टिकोण से न करके, नये सर्वहारा दृष्टिकोण से करना है। जब मायकावस्की ने प्रेम, गुलाब, इन्द्रधनुष, आँसू और गीत को बोर्जुआ मनोवृत्ति कहा था तो उसका मतलब यही था, जो काडवेल का। वह पक्का मार्क्सवादी बनना चाहता था और इसके लिए वह भावना के संसार को तहस-नहस कर देने में भी नहीं हिचकता था। उसके अनुयायी भी प्रेम का बिल्कुल मार्क्सवादी रूप लेना चाहते थे। उसके एक समकालीन कवि गिडाश

ने लिखा—"इसके पहले कि मैं प्रेम की कविताएँ लिखूँ मैं मार्क्स और एंजेल्स के ग्रन्थ तथा सोशलिस्ट नगरों के विषय में कागानोविच के भाषण पढ़ता हूँ ·· ······"

इस प्रकार के संकीर्ण मतवादों के फौलादी पंजों में कविता की आत्मा जकड़ ली गई थी, प्रेम का गला घोंट दिया गया था। जमाना नाजुक था। सारे देश में, एक आतंक का वातावरण था। बोर्जुआ मनोवृत्तियों के प्रति सारी जनता में एक खूनी बदले की भावना थी। कोई भी व्यक्ति उस भावना का दुरुपयोग कर सकता था। जैसे फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के बाद हजारों निर्दोषों को जनता ने गिलोटिन के घाट उतार दिया था, उसी तरह रूस में भी बड़ी विचित्र दशा थी। रूस के नेता अपने देश के साहित्य को ईमानदारी से ऊँचा उठाना चाहते थे, लेनिन में सच्ची साहित्यिक सुरुचि थी। उन लोगों की ईमानदारी में कोई सन्देह नहीं कर सकता, लेकिन जनता की भावनाएँ उनके काबू के बाहर की चीज थीं और जनता में सैकड़ों अवसरवादी समूह थे जो मौके का भली भाँति उपयोग करना चाहते थे। इसके अलावा मायकावस्की वगैरह कुछ कलाकार थे जो अपने हृदय की सारी ईमानदारी सचाई और ताकत के बावजूद एक एकांगी रास्ते पर चल रहे थे।

येसेनिन तथा उसी की भाँति के दूसरे कलाकारों में एक भयंकर अन्तर्द्वन्द्व शुरू हो गया था। उनके साहित्य को देखकर एक आलोचक ने लिखा था, "आज के रूसी साहित्य में एक दूसरी तरह का द्वन्द्वात्मकवाद चल पड़ा है। वह है कलाकार और परिस्थितियों की द्वन्द्वात्मकता!" यद्यपि सभी विचारधाराएँ बुद्धिवाद, राजनीति, आर्थिक संगठन और लाल सेना पर कविताएँ लिखने की सलाह दे रही थीं, पर कलाकार का व्यक्तित्व जैसे अपनी पूरी ताकत लगाकर अपने कल्पनाजगत को खून के धब्बों और फौलाद के पंजों से बचाने की चेष्टा कर रहा था। सृष्टि के आरम्भ से बनमानुसों का बाना उतार

फेंकने के बाद जब से आदमी ने वाणी का वरदान पाया था, तभी से वह कण-कण कर अपनी पलकों में प्रेम की निधि समेटता आ रहा था, प्रेम-गीतों में अपने हृदय की धड़कनें डुबोता आ रहा था और अब सहसा वह मशीन के चक्कों में अपनी प्रेयसी के कंचन-तन को पीस डालने के लिए तैयार नहीं था। सूक्ष्म विचार, सुकुमार कल्पना, मधुमासी प्यार और आत्मिक स्वतन्त्रता को इस तरह खो देना उसकी आत्मा को स्वीकार नहीं था।

येसेनिन के अलावा गद्य साहित्य में भी यूरी ओलेशा ने फौलादी विचारधारा के विरुद्ध आवाज उठाई। वह साहित्य में गुलाब और सपनों को वापस ले आने के पक्ष में था— अपने प्रसिद्ध उपन्यास "एन्वाय" (१९२६) में उसने नायक के मुँह से रोमान्स और कल्पना के पक्ष में एक पूरा सम्वाद कहलाया है। उसकी नायिका गौशैरोवा जो एक अभिनेत्री है – एक डायरी में सोवियट शासन के विषय में अपने दैनिक अनुभव लिखती है। उसमें उसने लिखा है कि "सामाजिक उपयोगिता की बलिवेदी पर बोल्शेविकों ने अन्तर्जगत की सुकुमार अनुभूतियों की हत्या कर डाली है!"

लेकिन नदी का बहाव दूसरी ओर था, जनता की मनोवृत्ति एक सैनिक की मनोवृत्ति हो रही थी जिसे तलवार की झंकार और भेरी की घोषणा के सामने माँ की लोरी और सितारों का संगीत फीका लगने लगता है। चाहे येसेनिन और ओलेशा सत्य ही क्यों न कह रहे हों, मगर जमाने का रुख कुछ और था।

१९१५ के दिसम्बर में सर्जी येसेनिन ने आत्महत्या कर ली······· वह बहुत दिनों से अपने को अकेला अनुभव कर रहा था। अपनी आत्मा और अनुभूति के प्रति उससे बेईमानी नहीं होती थी। वह जबर्दस्ती पार्टी के लिए, बोशेविकों के लिए कविता नहीं लिख सकता था। उसके प्रेम-गीत जनता में व्यापक थे, लेकिन हर समय उसकी

जान का खतरा था। उस पर चारों ओर से गालियों की बौछारें पड़ रही थीं। 'प्रतिक्रियावादी है!' 'वह क्रान्ति विरोधी है!' 'वह विदेशी जासूस है!' और जो लोग उसकी कविताओं पर अपने घर में झूम-झूम उठते थे, वही सभाओं में उसे गालियाँ देते थे। येसेनिन अपनी जिन्दगी से अब ताजा रहा था। शराब की गुलाबी मदहोशी भी अब उसके घावों को नहीं सहला पाती थी, उसकी आत्मा का तूफान अब सपनों में नहीं बँध पाता था, उसकी नसों का दर्द नसों को तोड़ देने के लिये बेचैन हो उठा था—ऐसी मनःस्थिति में उसने एक कविता लिखी—जिसकी पंक्ति-पंक्ति में उस फौलादी व्यवस्था के शिकंजे में दम तोड़ती हुई कला की व्यथा है—

"अपनी जन्म-भूमि से ऊबकर,
इन उजाड़ चरागाहों की
घुलती हुई उदासी से
ऊबकर······
मैं अपनी झोपड़ी छोड़कर चल दूँगा
एक आवारे की तरह
मैं दिन भर पीली घुमावदार पगडण्डियों
पर आश्रय खोजता हुआ चलूँगा;
मेरे प्यारे मित्र मेरा स्वागत करेंगे
और उनके घरों में छुरा तैयार रक्खा होगा
ऐसे मेहमानों के लिए;
और फिर मैं अपने देहात के झोपड़े में
लौट आऊँगा;
दूसरों को बेहद खुशी होगी,
जब एक हरी-भरी शाम को खिड़की के पास
मैं फाँसी लगाकर लटक जाऊँगा।

पोखरों के पास, लम्बी घास
सर झुका कर रो देगी—
और खिड़की के पास स्वर मिला कर कुत्ते रोयेंगे।
मेरी लाश को बिना नहलाये हुए वे कब्र में झोंक देंगे।
और चाँद इसी तरह तैरता जायेगा,
उसके रेशमी पतवार बादलों में लहरें बनाते रहेंगे
और रूस इसी तरह हँसता रोता रहेगा
मगर उसकी जिन्दगी न बदलेगी—"

येसेनिन की सुकुमार अनुभूतियों पर मदान्धता और गलत तौर के मार्क्सवाद का खूनी शिकंजा दिनोंदिन जकड़ता जा रहा था। सन् १४ और १५ में येसेनिन की जिन्दगी का अध्ययन करने पर मालूम होता था कि उसकी जिन्दगी में कितनी बड़ी ट्रैजेडी आ गई थी। कीट्स जैसे महान् कवि को पूँजीवादी आलोचकों ने मार डाला और येसेनिन जैसे कवि को तथाकथित मार्क्सवादी आलोचकों ने! उसके अन्तिम दिनों की कविताओं से मालूम होता है कि प्रोलेटेरियट नादिरशाही चाहनेवाले संकीर्णमना विचारकों ने किस तरह येसेनिन को तड़पा तड़पाकर मार डाला। सन् १६२५ का दिसम्बर रूस का मशहूर जाड़ा। आखिरकार सफेद बर्फ को हटाकर उसका सफेद शव दफना दिया गया। आँसू, अपमान, व्यंग, प्रताड़ना, अन्तसंघर्ष और मानसिक निर्वासन की नरक-यातना से येसेनिन छुट्टी पा गया।

लेकिन यह समझना गलत होगा कि रूसी जनता येसेनिन की भावुक और सुकुमार कला के विरुद्ध थी। जनता हर जगह की एक सी होती है। आदमी हर जगह आदमी होता है। हृदय हर जगह हृदय होता है। कोई भी युग, कोई भी विचारधारा, कोई भी गुटबन्दी कोई भी प्रचार प्रोपैगेण्डा, आदमी के हृदय में निहित सत्य की हत्या नहीं कर सकता। जनता येसेनिन की कविता के सत्य को पहचानती

थी और उसका आदर करती थी। येसेनिन के जनाजे के साथ जितने लोग गये थे, उसे देखकर प्रोलेटेरियट सरकार दंग रह गई। येसेनिन ने मरकर दिखला दिया था कि वह कितना प्यारा है रूसी जनता का!

लेकिन उसके खिलाफ संकीर्ण मार्क्सवादियों की जो नादिरशाही गुटबन्दी थी उसने उसकी आत्महत्या की निन्दा की, और इसमें सब से ऊँची आवाज थी मायकावस्की की। उसने इस आत्महत्या को चरम सीमा का पलायनवाद और प्रतिक्रियावाद बतलाया। रूसी सरकार ने एक फरमान जारी किया कि येसेनिन के पराजयवाद को जनता के मन से हटाने की पूरी कोशिश की जाय।

लेकिन येसेनिन की मौत सिर्फ एक कवि की वैयक्तिक आत्महत्या नहीं थी, वह युग की दो बहुत सशक्त विचारधाराओं के संघर्ष का दुखद परिणाम था। मायकावस्की और उसके विचारों में बहुत तेजी थी, बहुत तीखापन था, लेकिन वह धूल और पीले पत्तों से भरा हुआ एक अन्धड़ था जिसने प्रेम-गीतों के गुलाबी बादलों का रेशा-रेशा बिखरा दिया। लेकिन अन्धड़ अस्थायी होता है और अन्धड़ों के बावजूद साँझ के बादल हमेशा छाते रहे हैं और दिन भर के संघर्ष के बाद थके हुए आदमी की आत्मा पर शान्ति की पाखुरियाँ बिखेरते रहे हैं।

येसेनिन की आत्महत्या का एक युगव्यापी कलात्मक महत्त्व था जिसका संकेत प्रसिद्ध रूसी लेखक चेखव ने कई दशाब्दी पहले किया था। येसेनिन की आत्महत्या का वास्तविक अर्थ समझने के लिए हमें चेखव का 'सीगल' नामक नाटक का वास्तविक महत्व समझना बहुत आवश्यक है। यह नाटक उस समय लिखा गया था जब येसेनिन के इमेजिस्ट स्कूल की बुनियादें पड़ रही थीं। वह नाटक रूसी क्रान्ति के पहले लिखा गया था, लेकिन उसका नायक एक तरुण लेखक है जिसमें इमेजिस्ट प्रवृत्तियाँ हैं। चेखव के दूरदर्शी मस्तिष्क ने न जाने कैसे यह समझ लिया था कि यद्यपि यही इमेजिस्ट धारा भविष्य की

कविता में प्रमुख स्थान पायेगी लेकिन उसका एक सस्ता विरोध होगा जिसकी वजह से उसे आत्महत्या कर लेनी पड़ेगी !

सीगल की कथा इस प्रकार है। एक तरुण कलाकार है ट्रपलेफ़ जो देहात में रहता है। उसकी माता एक बहुत प्रसिद्ध अभिनेत्री है जिसका एक मित्र आर्केडिना देहात में उसके साथ रहने आता है। वह एक बहुत प्रसिद्ध रूसी लेखक है। लेकिन उसमें कोई भी प्रतिभा नहीं है और वह महज़ इसलिए प्रसिद्ध है कि उसे प्रसिद्धि मिल गई है, जैसा कि हिन्दी के भी बहुत से लेखकों के साथ है। वह तरुण कलाकार ट्रेपलेफ़ बहुत ही प्रतिभाशाली है और एक पात्र के कथनानुसार वह 'चित्रों की भाषा' में सोचता है। वह एक लड़की निना को प्यार करता है जिसे नायिका बनाकर वह एक ड्रामा खेलता है। उसकी माता जिसमें बहुत कृत्रिमता है और विचारों की गम्भीरता का सर्वथा अभाव है, उसके उस नाटक की मजाक उड़ाती है। प्रसिद्ध लेखक आर्केडिना भी उसे समझने में असमर्थ रहता है क्योंकि उसमें समझदारी की बहुत कमी है और वह मछली मारने को साहित्य से कहीं गम्भीर कार्य समझता है। ट्रेपलेफ़ को हर तरफ से निराशा मिलती है। निना भी प्रसिद्ध लेखक आर्केडिना की ओर आकर्षित हो जाती है। केवल एक पात्र है डा० डार्न जो बहुत कुछ चेखव का प्रतिबिम्ब है—वह कहता है—"जहाँ तक मेरा सवाल है मैं ट्रेपलेफ़ की कला में विश्वास करता हूँ। वह कुछ करेगा। वह कुछ करके रहेगा। वह चित्रों की भाषा में सोचता है। उसकी कहानियाँ रंग और रोशनी से लबालब भरी रहती हैं। वे दिल में गहरी उतर जाती हैं...." लेकिन जीवन के अन्य सभी क्षेत्र से उसे निराशा मिलती है और अन्त में वह आत्महत्या कर लेता है।

चेखव मानव के मनोविज्ञान को खूब समझता था। वह यह समझ गया था कि आगे चलकर युग का अन्धा आवेश इस उगती हुई कला के पौधे को कुचल देगा। वह समझता था कि यह इमेजिस्ट स्कूल का

कला ही इस समय की सच्ची कला है, लेकिन एक सस्ता विरोध इस पर अधिक हावी हो जायगा, इसकी हत्या कर देगा लेकिन यह विरोध संकीर्ण मार्क्सवादी विरोध होगा यह चेखव उतने पहले नहीं अनुमान कर पाया था। यह बात चेखव ने नहीं लिखी थी कि उस संकीर्ण मार्क्सवाद को भी आत्महत्या कर लेनी पड़ेगी। उसके नाटक का अलिखित अंक आगे चलकर युग ने मायकाव्स्की की लाश से लिखा......।

एक फ्रांसीसी कहावत है कि ईश्वर की चक्की पीसती है मगर धीरे-धीरे पीसती है। कौन जानता था कि बहुत शीघ्र ही मायकावस्की को भी वही रास्ता अपनाना पड़ेगा जो येसेनिन का था। मायकावस्की ने ऊपर से चाहे अपने व्यक्तित्व पर फौलाद की चादर मढ़ ली हो, लेकिन उस फौलाद के नीचे हड्डी और गोश्त, प्यास और आँसुओं का बना हुआ मानव था, वही मासूम धड़कनें उसकी पसलियों के नीचे आँखमिचौनी खेलती थीं। उसने मार्क्सवाद की एक यान्त्रिक व्याख्या कर ली थी, उस यान्त्रिकता में पूर्णतया ढल जाने का निश्चय कर लिया था, लेकिन अपने को धोखा दे लेना आसान है, हमेशा उसी धोखे को कायम रखना असम्भव! उसकी आत्मकथा में यह उल्लेख मिलता है कि बचपन में उसने डोन क्विक्जोट की कहानी पढ़ी और उसके बाद एक लकड़ी की तलवार और टीन की ढाल बनाकर सभी से लड़ने लगा। बड़े होने पर भी उसने एक एकांगी जीवन-दर्शन अपनाया और भावना से, प्रेम से, जीवन के शाश्वत सौन्दर्य से लड़ने चला। मगर वास्तविक लड़ाई में उसकी तलवार लकड़ी की साबित हुई, और ढाल टीन की और अपने को वह सम्हाल नहीं पाया। कहा जाता है कि अपनी मौत के दिनों में वह बहुत थक गया था, मानसिक रूप से। वास्तव में उसने अपने मन की सहज प्यास का इतना कड़ा विरोध किया, इतना अन्तर्संघर्ष मोल ले लिया जिसको उसकी नसें बर्दाश्त न कर सकीं—येसेनिन की मृत्यु के पाँच ही वर्ष बाद उसके

हृदय में पूरी तरह उसकी पराजय जाग उठी। उसने अपनी आन्तरिक पीड़ा से काँप कर लिखा —

"मैंने अपनी भावना को जकड़ दिया था,
और अपने गीतों को पैर के नीचे दबाकर
उनका गला घोंट दिया।........."

हत्या चाहे वह भावना की हो, या किसी व्यक्ति की, हत्या हमेशा अपराधी के व्यक्तित्व को अन्दर से चूर-चूर कर देती है। 'जो चुप रहेगी जबाने खंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का!' अन्त में मायकावस्की की आस्तीं का लहू शेष के सहस्र मुखों से पुकार उठा और अपने अपराध की चेतना के जहर ने मायकावस्की के व्यक्तित्व की सारी शक्ति चूस ली।

उसी वक्त दो घटनाएँ ऐसी घटीं जो मायकावस्की के लिए अभिशाप बन गईं। एक तो मायकावस्की, जो बराबर फौलाद बना रहा, अन्त में एक दिन उसकी पसलियों के नीचे प्यार की आग धधक उठी और उसका परिपाक हुआ एक दुखान्त घटना में। दूसरी बात इससे भी ज्यादा भयंकर थी। एक नया आलोचक दल निकल आया था आर० ए० ए० पी० जो साहित्य पर प्रोलेटेरियट तानाशाही में विश्वास करता था। वह और भी संकीर्ण था और मार्क्सवादी व्याख्या में मायकावस्की तक के लिए स्थान नहीं था। उसके कहने पर स्टालिन ने मायकावस्की की कविताएँ, स्कूलों, कालेजों के पाठ्य-क्रम तक से हटा दीं। समय के चक्र ने घूमकर मायकावस्की को ही जकड़ लिया और येसेनिन की मौत के सिर्फ पाँच वर्ष बाद मायकावस्की को भी उसी आत्महत्या का सहारा लेना पड़ा। अन्त में एक दिन उसका भी जनाजा उसी रास्ते से गुजरा .... येसेनिन ने मरकर एक सवाल पूछा था—क्या बिना प्यार के कोई भी साहित्य जीवित रह सकता है? मायकावस्की ने मरकर उत्तर दिया—"नहीं!"

पाँच वर्ष के अन्दर किसी भी राष्ट्र के दो महानतम कवियों का

आत्महत्या कर लेना इतना बड़ा कलंक है कि सभ्य राष्ट्रों के सामने सर उठाना मुश्किल हो जाता है। स्टालिन ने इसको अच्छी तरह अनुभव किया। वह स्वयम् अनुभव कर रहा था कि साहित्यकार को जकड़ा नहीं जा सकता। उस पर जो अनावश्यक बन्धन लगा दिये गये हैं उससे रूस के साहित्य को क्षति ही पहुँच रही है। स्टालिन में एक खूबी है। संसार के सभी शासकों में स्टालिन से ज्यादा अपने देश को प्यार करनेवाला कोई नहीं है। वह हमेशा वही करता है जिससे रूस की शक्ति, रूस की संस्कृति, रूस की सभ्यता के महान निर्माण में ठोस सहायता मिले। उसने महसूस किया कि मार्क्सवाद की यह संकीर्ण व्याख्या साहित्यकार के अन्तर्जगत में समा नहीं पाती, साहित्यकार को प्रेरणा नहीं दे पाती। साहित्यकार को भावना के जगत में बहुत छूट देनी पड़ेगी। यह समझ लेने के बाद उसने आर० ए० पी० पी० को भंग कर दिया और उसके स्थान पर "सामाजिक यथार्थवाद" का सिद्धान्त रक्खा। उसने कवि के अन्तर्जगत का भी महत्व स्वीकार किया। समाजवाद और प्रगतिशीलता के होते हुए भी प्यार उनसे अलग नहीं है।

भावनात्मक गीतों के प्रति नये आलोचकों का क्या रुख है यह ए० गर्स्टीन की पुस्तक—"लिरिक एण्ड सोशलिज्म" से स्पष्ट है। वह लिखता है—"इतिहास के दौरान में अभी तक प्रगतिवाद ने अपने को ऐसे गीतों में अभिव्यक्त किया है जिसमें पुरानी दुनिया के प्रति अस्वीकृति का दृष्टिकोण था। अब चूँकि दुनिया बदल चुकी है अतः गीतों में अब विध्वंस की अपेक्षा निर्माण की चेतना आनी चाहिये। समाजवादी व्यवस्था आ गई है अतः नवीन समाजवादी मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों का भावनात्मक चित्रण गीतों में आना चाहिये। नई संस्कृति के गायक को न केवल व्यवस्था के गीत गाने चाहिये वरन् उस मनुष्य की भावना को गीतों में सर्वप्रमुख स्थान मिलना चाहिये जो इस सारी व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु है।" इस

नवीन दृष्टिकोण के लिए मार्क्स का हवाला दिया जाता है। मार्क्स ने लिखा था कि "पूँजीवादी दुनिया में आदमी खोखला हो गया। वह भावनाओं की सचाई तक नहीं पहुँच पाता। देश, आनन्द, प्रेम, मातृत्व और कल्पना यह सब केवल शब्दों की झंकार है, एक नक़ाब है जिसे पहनकर आदमी पूँजीवादी व्यवस्था में अपने को धोखा देता है। समाजवादी व्यवस्था में इन शब्दों के अन्तर्निहित सत्य और सौन्दर्य का पूरा विकास होगा!"

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेम को निर्वासित कर, उसकी सज़ा पा जाने के बाद आज फिर घूम-फिरकर रूसी कविता ने प्रेम के सामने सर झुका दिया। रही मार्क्स की यह दलील कि केवल समाजवादी प्रेम ही महत्वपूर्ण है, इसका निराकरण तो यहीं हो जाता है, कि लेनिन का परमप्रिय कवि पुश्किन था, आज भी रूसी जनता, कम्यूनिस्ट सरकार, और प्रगतिशील आलोचक पुश्किन को रूस का गौरव मानते हैं। और पुश्किन समाजवादी व्यवस्था में नहीं पैदा हुआ था, वह जारशाही के जमाने का था। उसकी मृत्यु समाजवादी युग के लिए लड़ने में नहीं हुई थी, उसकी मृत्यु अपनी बेहद सुन्दरी, बेहद धनी, और बेहद मूर्ख पत्नी से पीछे एक द्वन्द्व-युद्ध में हुई थी। फिर भी आज उसकी प्रेम-कविता सोशलिस्ट रूस के गले का हार बनी हुई। वास्तव में रूसी कविता एक बार स्पष्ट भावनात्मक स्तर पर उतर रही है। अपनी लाचारी को चाहे जिसका हवाला देकर छिपाया जाय।

और युद्ध ने तो इस भावनात्मक प्रवृत्ति को पूर्णतया उभार कर रख दिया है। जर्मनों के प्रति घृणा और अपनी जाति के प्रति अभिमान तथा व्यक्तिगत जीवन में अपनी प्रेयसी से दूर रहनेवाले सिपाही की व्यथा—यही युद्ध की कविता का मुख्य विषय बन गया है। यह ऐसे विषय हैं जो सृष्टि के आरम्भ से युद्ध काल की कविता के विषय बने रहे हैं, चाहे सामन्तवादी युग हो चाहे समाजवादी!

युद्ध-काल में प्रसिद्धि पानेवाले नये कवियों में कौन्टैन्स्टिन सिमानाव सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है। उसके काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण मायकावस्की की मृत्यु के बाद हुआ था। वह बहुत भावना-प्रधान कवि है। उसकी रचनाएँ—"प्रथम प्रणय," "४१-४२ की गीतात्मक डायरी" और "तुम्हारे पास और दूर!" रूसी जनता में बहुत ही जनप्रिय हैं। वह कामसोमाल थियेटर की एक बहुत प्रतिभाशाली अभिनेत्री को प्यार करता है और उसी को उसने अपनी रचनाएँ भेंट की हैं। इतना दर्द, इतनी वेदना है उसकी कविता में कि विश्व-साहित्य के प्रेम-गीतों में शीघ्र ही उसके गीतों को स्थान मिल जायगा। युद्धकाल में एक सधे देशभक्त की तरह उसने भी अपने देश के दुश्मनों के विरुद्ध बन्दूक उठाई थी और स्मोलेनस्क से स्टालिनग्राड तक वह मोर्चे पर लड़ा था। उसी बीच में उसने बहुत जोशीले युद्ध-गीत लिखे। लेकिन वह कहीं भी अपनी प्रेयसी को न भुला सका। युद्ध के आखीरी दिनों में जब वह जर्मनी में था तो उसने—"दूर देशवासिनी से!" शीर्षक से एक कविता लिखी थी—

"मैं यहाँ किसी से अपने दर्द बटाने की उम्मीद नहीं करता
यहाँ तुम कभी मुझे तुम्हारा नाम लेते हुए भी न सुनोगी,
लेकिन मेरा यह मौन तुम्हारी साँसों से बसा हुआ है
और हवा के झोंकों में तुम्हारा ही रूप लहराता है!"

उसका यह प्यार कभी-कभी इतना अपार्थिव हो उठता है कि उसे छायावादी कह देने की तबीयत होती है—

"केवल एक मात्र प्यार की प्रेरणा से
मैं तुम्हारी आत्मा को अपनी आत्म से बाँध सकता था,
और तुम्हारी आत्मा से कह सकता था—
आओ मेरे साथ रहो:

सूक्ष्म, शरीरहीन—जिसे कोई भी न देख सके !"

इसे पढ़कर पन्तजी की वह नायिका याद आ जाती है जिसके लिए वे लिखते हैं—"सब, रूप, रेख, रंग ओझल !"

केवल सिमानाव ही नहीं, वरन डालमेटावस्की और मैटुसावस्की में भी इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ आ रही हैं लेकिन सिमानाव तो बहुत प्रख्यात हो चुका है। श्लकोवस्की ने तो कहा है, "वह पहला आधुनिक कवि है जिसने हमारे सामने अपना दिल खोलकर रख दिया है !"

यद्यपि अब भी कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रेम की कविता के नाम पर मुँह सिकोड़ते हैं, मगर ये वही बूढ़े अफसर हैं जिनका लालन-पालन संकीर्ण मार्क्सवादी परिस्थितियों में हुआ था। कहा जाता है एक कम्यूनिस्ट पदाधिकारी ने कहा था—"सिमानाव की रचनाओं की केवल दो प्रतियाँ छपनी चाहिये। एक उसके खुद के लिए, दूसरी उसकी वहू के लिए !" लेकिन अब इतनी संकीर्णता व्यापक नहीं है। जनता येसेनिन और पुश्किन को खूब अपना रही है। सन् ४३ में सरकार की ओर से रूसी कविताओं का एक संग्रह छपा है जिसमें मायकावस्की और येसेनिन दोनों का समान स्थान है, दोनों की २१-२१ गीत हैं। येसेनिन का मृत्युपर्व भी अब सरकार की ओर से मनाया जाने लगा है।

कम से कम मुझे तो जरा भी सन्देह नहीं कि जब रूस की नई पीढ़ी अपनी पूर्णता पर पहुँचेगी उस समय फिर वही कविता का स्वर्णकाल आ जायगा, फिर प्रेम और सौन्दर्य के गीतों से रूसी वातावरण गूँज उठेगा और फिर रूप की धरती से पुश्किन और येसेनिन जागेंगे। रूस के नये युग से स्वरों में फिर के प्रेम और सौन्दर्य के देवता की प्रतिष्ठा होगी।

मुझे तो पूरा विश्वास है कि आनेवाली रूसी कविता में फिर

एक बार रूसी मधुमास की सुबह की ताजगी, उड़ते हुए बादलों का हल्कापन, और पलकों के आँसुओं की चमक झलकेगी। प्रेम की दिशा सृष्टि के प्रथम दिवस से कविता की अनिवार्य दिशा रही है और सृष्टि के अन्तिम दिवस तक रहेगी।

राजनीतिक अनुशासन और साहित्य
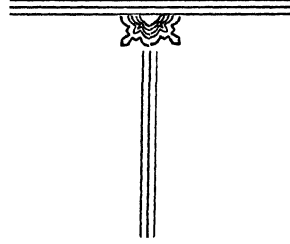
इसमें कोई सन्देह नहीं कि महान् कलाकार अपने युग की समस्याओं का समाधान अपनी कला में अवश्य देता है, लेकिन केवल इसी आधार पर यह कहना कि केवल राजनीतिक कला ही महान् हो सकती है, या किसी भी युग की कला का राजनीतिक अंश ही महान् है, यह एक बहुत बड़ी भूल है। एक राजनीतिज्ञ और एक कलाकार, दोनों ही किसी विशेष युग में किसी मानवता की समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते हैं, लेकिन राजनीतिक के सामने केवल शासन सत्ता को हस्तगत करना या उसे सुरक्षित, दृढ़ करने का मन्तव्य रहता है। कलाकार की समाधान भूमि अधिक विस्तृत होती है। उसकी दृष्टि मानव आत्मा पर रहती है और वह जीवन का एक सम्पूर्ण और स्थायी समाधान खोजना चाहता है जिसमें केवल राजनीति या अर्थशास्त्र ही नहीं वरन् मनोविज्ञान, भावनाएँ, प्राचीन साहित्यिक परम्पराएँ, प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं का भी आधार रहता है। अधिकतर ऐसा रहा है कि कलाकार अपने युग के राजनीतिज्ञों से अधिक प्रगतिशील रहे हैं, इस अर्थ में कि जहाँ राजनीतिज्ञों के खोजे हुए समाधानों के कारण आगे चलकर समस्याएँ और भी उलझती गईं वहाँ कलाकारों के समाधानों ने मानवता को आगे बढ़ने का सबल और स्थायी आधार दिया है।

लेकिन आज के युग में जब कि आर्थिक समस्याएँ और राजनीति इतनी प्रमुख हो गई है, एक गम्भीर प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। राजनीति और साहित्य में सापेक्ष सम्बन्ध क्या है? साहित्य पर कहाँ तक वाह्य राजनीतिक प्रतिबन्ध रहना चाहिये? कहाँ तक साहित्य को पार्टी के आदेशों पर चलना चाहिये? क्या साहित्य वाह्य राजनीतिक बन्धनों में फल-फूल सकता है? पार्टी-लिटरेचर का नारा कहाँ तक कल्याणकारी है? इस विषय में सबसे अच्छा यह होगा कि हम देखें कि रूस में इस विषय में क्या प्रयोग हुए हैं। रूस ही एक मात्र देश है जहाँ मार्क्सवादी शासन है। वहाँ साहित्य और पार्टी में क्या सम्बन्ध रहा है और उसकी साहित्य पर क्या प्रतिक्रिया हुई है।

सभी देशों के मार्क्सवादियों की पुकार रही है कि कम्यूनिस्ट लेखक को, प्रगतिशील लेखक को पार्टी लेखक होना चाहिये। प्रसिद्ध अंग्रेजी मार्क्सवादी लेखक रैल्फ फाक्स जो सचमुच ही विश्व-क्रान्ति का एक बहादुर सिपाही था, जो स्पेन में प्रजातन्त्रवाद के लिए लड़ते लड़ते हुए मरा; उसने अपने 'नावेल एण्ड द पीपुल' में स्पष्टतया लिखा है—"क्रान्तिकारी लेखक सदा पार्टी-लेखक होता है। इसके मतलब यह नहीं कि वह दिन-प्रतिदिन की समस्याओं पर पार्टी के नारे लागू किया करता है, वरन् वह पार्टी की चेतना का समर्थन देने के लिए नई चेतना का साहित्य सृजन किया करता है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि रैल्फ़ फाक्स की इस व्याख्या में संकीर्णता नहीं है, लेकिन जब यह पार्टी लिटरेचर का सिद्धान्त व्यवहार में लाया गया तो यह बहुत खतरनाक साबित हुआ और संकीर्ण होते-होते यह पार्टी तानाशाही के सिद्धान्त पर उतर आया।

जहाँ तक रूस का प्रश्न है, वहाँ तो कम्यूनिस्ट पार्टी ही इस समय शासक है। इसलिए वहाँ पार्टी अनुशासन के साथ-साथ राजकीय संरक्षण का प्रश्न भी साहित्य के लिए उठ आता है।

रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना लगभग १८८३ के लगभग हुई। कम्यूनिस्ट क्रान्ति और कम्यूनिस्ट पार्टी का शासन अक्टूबर १९१७ से हुआ और मायकावस्की की फ्यूचरिस्ट कविता का आरम्भ १९१८ से हुआ। १९१६ से लेकर १९४७, ३० वर्ष तक पार्टी के शासन और साहित्य के सृजन में कभी द्वन्द रहा, कभी नियन्त्रण, कभी उदार स्वाधीनता, कभी उदार संरक्षण। सोवियट सरकार प्रयोग करती रही, प्रयोगों से सीखती रही और सीख सीखकर अपनी दिशाएँ बदलती रही। शुरू में जब सोवियट सरकार क़ायम हुई उस समय गृहयुद्ध, सैन्य संगठन, आन्तरिक प्रबन्ध, प्रतिक्रियावादी विरोध, विदेशी षड्यन्त्र न जाने कितनी बहुत महत्वपूर्ण समस्याएं पार्टी के समान थीं और साहित्य पर पार्टी ने अधिक ध्यान नहीं दिया।

मायकावस्की और उसके साथी ओ० ब्रिक भविष्यवादी कविता का प्रचार कर रहे थे। भविष्यवाद सभी प्राचीन कविता और कला से नाता तोड़ लेना चाहता था, नई शैली और नई सरकार की नई नीति यही भविष्यवादी कविता थी। कम्यूनिस्ट पत्रिका इस्कुस्त्वो कम्यूनी के प्रथम अंक में ही ब्रिक ने घोषित किया कि भविष्यवाद ही नवीन युग की कला है। वही सच्चा प्रोलेटेरियट साहित्य है। उसने उसी लेख में यहाँ तक कहा कि अब अगर लिखा जायगा तो प्रोलेटेरियट साहित्य, अन्यथा साहित्य का लिखना ही बन्द कर दिया जायगा।

लेकिन नई कम्यूनिस्ट सरकार भविष्यवादी कला को संरक्षण देने के लिए तैयार नहीं थी। लेनिन भी मायकावस्की को बहुत बड़ा कवि नहीं समझता था, उसमें अपने प्राचीन साहित्य के लिए मोह था। लेनिन का सहकारी, सोवियट रूस का शिक्षा मन्त्री लुचारन्स्की भी संकीर्ण विचारों का नहीं था। उसे प्राचीन साहित्य के प्रति काफ़ी श्रद्धा थी और प्रोलेटेरियट साहित्य के विषय में उसका कहना था कि 'प्रोलेटेरियट शासन क़ायम होते ही प्रोलेटेरियट साहित्य की

माँग करना एक असम्भव चमत्कार की माँग करना है।" बुखारन्स्की के विचार बहुत ही सन्तुलित थे। दिसम्बर, सन १६१८ के इस्कुस्त्वो कम्यूनी में उसने स्पष्ट लिखा था—"यह तो बड़ी ही भद्दी बात है कि हम महान लेखकों को इस बात के लिए मजबूर दें कर कि वे अपने को स्वतन्त्र लेखक न समझकर सरकारी लेखक समझें और उनकी कलम अपनी अनुभूति पर संचालित न होकर किसी बाहरी आदेश पर संचालित हो, चाहे वह आदेश किसी क्रान्तिकारी दल का ही क्यों न हो !"

लेकिन सन् २० के ही बाद से कम्यूनिस्ट लेखक और विचारक अपनी तानाशाही क़ायम करने के लिए व्यग्र थे। जैसा हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि "आन गार्ड" आदि कई गिरोह क़ायम हो गये थे जो सिवा पार्टी लेखकों को, अन्य लेखकों को किसी तरह का भी प्रोत्साहन देने के सर्वथा विरूद्ध थे। प्रथम अखिल सोवियट लेखक सम्मेलन में कामरेड वाराडिन ने एक रिपोर्ट इस विषय पर पेश की थी कि किस प्रकार वे लेखक, जो कम्यूनिस्ट नहीं हैं, (फेलो ट्रैवलर या सहयात्री) धीरे धीरे महत्व पाते जा रहे हैं। यह बात कम्यूनिस्ट लेखकों को सह्य नहीं थी। इस सूचना पर उस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया—"वर्ग-संघर्ष वाले समाज में साहित्य को तटस्थ रहने का अधिकार नहीं है। उसको शासक वर्ग का साथ देना ही होगा। शान्तिमय सहयोग और विभिन्न साहित्यिक धाराओं के निर्बाध अस्तित्व की बातें महज़ हवाई क़िले हैं। साहित्य को भी वर्ग - संघर्ष का रक्षा क्षेत्र बनना ही होगा।"

लेकिन बुख़ारिन ने आँन गार्ड वालों से स्पष्ट कहा कि "पहले तुम कुछ निर्माण करो कुछ सफलता प्राप्त करो, तब तुम राजकीय संरक्षण का दावा कर सकते हो।

साहित्य पर पार्टी की तानाशाही लाद देने का यह ख़तरा इतना

भीषण और इतना ख़तरनाक होता जा रहा था कि रूस का भला चाहनेवाले इस नारे की भयंकरता को भली भाँति महसूस करने लगे और इसके ज़हर के निराकरण के उपाय सोचने लगे। हम इस नारे की मूल शक्ति तब पहचान सकते हैं जब हम यह पहचान लें कि इस नारे को बुलन्द करनेवालों की क्या मनोवृत्ति थी।

ये लोग जो ऑन गार्ड जैसे दलों के सदस्य थे, और प्रोलेटेरियट साहित्य की तानाशाही की माँग पेश कर रहे थे; ये लोग अधिकतर मध्यम या निम्न श्रेणी के कलाकार थे, 'कवियशः प्रार्थी' थे लेकिन इनमें इतनी प्रतिभा नहीं थी कि ये स्वयं अपनी कलम के बल पर जनता के हृदय में अपना स्थान बना सकें। अपनी कला के अभाव को यह पार्टी और राज्य के संरक्षण के बाने से पूरा करना चाहते थे। जब साहित्य के माध्यम से यह दूसरे कलाकारों को नहीं हरा सके तो इन्होंने राजनीतिक नारों का आश्रय लेकर उन्हें हराना चाहा।

लेकिन उस समय कम्यूनिस्ट पार्टी का नेतृत्व और रूस का शासन जिन लोगों के हाथ में था वे सोवियट साहित्य का हित चाहते थे और इन यशलोलुप लेखकों के चक्कर में फँसकर अपने देश के साहित्य को नष्ट नहीं करना चाहते थे। १६ मई सन् १९२४ को, कम्यूनिस्ट पार्टी की सेन्ट्रल कमेटी का घोषणापत्र इस सम्बन्ध में बहुत दूरदर्शितापूर्ण और उदार था।

"यह संक्रान्ति-काल है, पार्टी को किसी भी संक्रान्ति-कालीन साहित्यिक विचारधारा के प्रति अधैर्य नहीं दिखाना चाहिये।...... प्राचीन साहित्य और साहित्यिक विद्वानों के प्रति जो विचारहीन आन्दोलन चल पड़ा है उसका हमें विरोध करना चाहिये... ...इसी प्रकार शुद्ध प्रोलेटेरियट साहित्य का निर्माण करनेवाली सभी अविचारपूर्ण प्रवृत्तियों के खिलाफ पार्टी को लड़ना चाहिये।...... कम्यूनिस्ट आलोचना में किसी में किसी प्रकार की तानाशाही का आभास न रहना चाहिये।......जो भी लेखक या जो भी

साहित्यिक संघ कम्यूनिस्ट न होते हुए भी कम्यूनिस्ट निर्माण के साथ चलने के लिए तैयार हैं, उनके प्रति बहुत ही नीतिपूर्ण और उदारतापूर्ण व्यवहार होना चाहिये ।…… ……प्राचीन महान् साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़नी चाहिये और उन्हें अपने सामने आदर्श रूप में रखना चाहिये ।……इस नये युग के अनुरूप साहित्य तैयार होगा लेकिन उस साहित्य को इस तरह धमकी देकर या आदेश देकर नहीं तैयार किया जा सकेगा ।…किसी भी साहित्यिक संघ को पार्टी के नाम पर प्रचारित करना बहुत बड़ा अपराध है ।…किसी भी साहित्य पर किसी भी पार्टी का आधिपत्य रखना एक नौकरशाही मनोवृत्ति है । मजदूरों और किसानों के लिए लिखे गये साहित्य के प्रति पूरी नैतिक सहानुभूति होते हुए भी पार्टी किसी विशेष लेखकों के गिरोह को संरक्षण नहीं दे सकती, चाहे वह कितना ही प्रोलेटेरियट क्यों न हो । किसी विशेष समूह को संरक्षण देने के अर्थ हैं संघ-जनवादी-साहित्य की हत्या कर देना ।"

कुछ दिनों तक सोवियट सरकार और कम्यूनिस्ट पार्टी की यह प्रशंसनीय तटस्थता चलती रही लेकिन कभी-कभी परिस्थितियाँ फिर आदमी को ऐसे समाधान भी शरण लेने को मजबूर कर देती हैं जिसे वह पहले ठुकरा चुका है । स्टालिन अकेला था, लेनिन की मौत के बाद ! ट्राटस्की के समर्थक हर तरह से सोवियट सरकार को उलटने का प्रयास कर रहे थे । उन्हें पाश्चात्य पूँजीवादी सरकारों का भी पूरा सहयोग प्राप्त था । चारों ओर से रूस दुश्मनों से घिर गया था और प्रतिक्रियावादी दलों के भेष में दुश्मन घर में भी घुस गया था। ऐसी अनिश्चित परिस्थितियों में जब एक शासक फँस जाता है तब उसे अपने से भी डर लगने लग जाता है । उस डाँवाडोल परिस्थिति में कभी-कभी वह ऐसे काम कर जाता है जिसका परिणाम उसे पहले से नहीं मालूम होता, बाद में उसे उस गलती का बहुत बड़ा प्रायश्चित करना पड़ता है ।

कुछ ऐसी ही गलती हुई स्टालिन से जब उसने १६२६ में सभी साहित्यिक संघों को मिटाकर केवल आर० ए० पी० पी० (रूसी प्रोलेटेरियट लेखक संघ) की तानाशाही कायम कर दी। उनका अध्यक्ष आवरबाख था और उसने कैसे हास्यास्पद रीति से साहित्य के साम्राज्य में नादिरशाही बर्ती और अन्त में साइबेरिया भेज दिया गया यह सब हम पिछले अध्यायों में देख चुके हैं।

धीरे-धीरे स्टालिन ने अपनी गलती महसूस की और वह साहित्य को इस शिकंजे से मुक्त करने का प्रयास करने लगा। उसने अच्छी तरह देख लिया कि साहित्यकार के ऊपर सिवा सत्य और अनुभूति के अन्य किसी प्रकार का राजनीतिक बन्धन सच्चे साहित्य को मार डालता है। अतः उसके संकेत पर २३ अप्रैल सन् १६३२ को कम्यूनिस्ट पार्टी की सेन्ट्रल कमेटी ने यह प्रस्ताव पास किया—"चूँकि अब प्रालेटेरियट साहित्य अपने को स्थापित कर चुका, मिलों, फैक्टरियों और समुद्री मजदूर भी साहित्य के क्षेत्र में आ चुके। अतः अब आर० ए० पी० पी० तथा उसी प्रकार की अन्य संस्थाओं की आवश्यकता नहीं रही। उनका दायरा अब नये साहित्य के विकास के लिए संकुचित मालूम पड़ता है। अतः सेन्ट्रल कमेटी निश्चित करती है कि—

१. आर० ए० पी० पी० तथा इस प्रकार की अन्य संस्थाएँ भंग कर दी जायें।

२. जो भी लेखक सोवियट राष्ट्र की सत्ता स्वीकार करते हैं और समाजवादी निर्माण के साथ हैं उन सबको एक मंच पर संगठित कर एक व्यापक सोवियट लेखक संघ कायम करना। इस संघ में कम्यूनिस्ट अंश रहेगा।

३. इसी प्रकार का परिवर्तन कला के अन्य क्षेत्रों में करना।

४. एक ब्यूरो संगठित करना जो इस निश्चय को कार्यान्वित करे।

यह निश्चय कार्यान्वित हुआ और आज फिर सोवियट साहित्य को इतनी स्वाधीनता है कि वह खुलकर साँस ले सके। स्वयम् सोवियट सरकार की नीति भी आज बजाय संकीर्ण मार्क्सवाद के, एक व्यापक जनवाद (narodnism) को अपना रही है और सोवियट साहित्य में भी वर्ग-संघर्ष के बजाय एक नवीन सोवियट मानववाद का जन्म हो रहा है।

लेकिन फिर भी यह सोचना गलत होगा कि पार्टी से साहित्य सर्वथा मुक्त है या निरपेक्ष है। हम देख चुके हैं कि प्रस्ताव में स्पष्ट शब्दों में यह था—"इस संघ में कम्यूनिस्ट अंश रहेगा।"

वह कम्यूनिस्ट अंश है, और सोवियट लेखक और कम्यूनिस्ट पार्टी के सापेक्ष संबन्धों को समझने के लिए उस कम्यूनिस्ट अंश के स्थान को समझ लेना बहुत आवश्यक है। कहाँ तक उसका महत्त्व है? क्या वह प्रभावशाली अंश है? यदि है तो कहाँ तक?

यह तो स्पष्ट है कि बाहरी तौर से कम्यूनिस्ट अंश को कोई विशेष सुविधाएँ नहीं हैं, लेकिन यह स्वाभाविक है कि जब देश में कम्यूनिस्ट सरकार है तो कम्यूनिस्टों को राजनीतिक सुविधाएँ और प्रतिष्ठा मिलेगी लेकिन अब कम्यूनिस्टों की आलोचना में वह साहित्यिक तानाशाही का स्वर नहीं रह गया है। संघ का सभापति साधारणतया पार्टी का सदस्य होता है और उसके माध्यम से पार्टी और संघ में सम्बन्ध बना रहता है। लेकिन यह सम्बन्ध नीति पर कम असर डालता है। इसका मुख्य काम होता है लेखक-संघ के बाह्य संगठन का प्रबन्ध करना। लेखकों की पाण्डुलिपियाँ छपवाना, उसकी जीविका, उनका रहन-सहन, उनके पुस्तकालयों और उनके अध्ययन की सुविधाएँ आदि प्रस्तुत करना, यह सभी सभापति के हाथ में होता है। लेकिन यह अवश्य है कि यह सभापति पार्टी का नियमित सदस्य होता है और अक्सर वह मार्क्सिस्ट दर्शन और मार्क्सिस्ट आलोचना का विद्वान होता है, लेखक या कवि नहीं। सोवियट लेखक संघ का वर्तमान सभापति जी० एम० अलैक्जेन्ड्राव है जो बहुत कम लिखता है लेकिन

जो बहुत गहरा राजनीतिक विचारक है और राजनीति की दिशाओं को बहुत सूक्ष्मता से समझता है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से स्टालिन इन लेखकों को राजनीतिक निर्देशन में रखता है। कभी-कभी लेखक-संघ के सभापति या मन्त्री इस पद के सहारे राजनीति में भी प्रमुख स्थान बना लेते हैं। इस संघ का सर्वप्रथम मन्त्री शरबैकोव था जो बाद में राजनीति में बहुत प्रभुत्व पा गया। युद्ध के जमाने में वह रेडआर्मी के सूचना विभाग का प्रमुख सचिव था और १९४५ में, अपनी मृत्यु के समय वह लेफ्टीनेन्ट जेनरल बन चुका था। लेखकों पर कम्यूनिस्ट पार्टी में सम्मिलित होने के लिए कोई विवश नहीं करता। अधिकांश लेखक कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं हैं। लेकिन उनमें से अधिकांश उस आदर्श में पूर्णतया विश्वास करते हैं। आये दिन स्वयम् पार्टी की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्र दिया करते हैं। यह सदस्यता वे इसलिए नहीं स्वीकार करते कि उन पर कोई बाहरी राजनीतिक दबाव है, वरन् इसलिए कि वे अपनी निर्माण-चेतना को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं, वे जिन आदर्शों को कलम पर उतारते हैं उन्हें जीवन में भी प्रतिपालित करना चाहते हैं। उनका पार्टी सदस्य होना अब किसी राजनीतिक गुलामी का चिह्न नहीं है वरन् उनकी देशभक्ति का ज्वलन्त प्रमाण है। हमें रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी को भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी का प्रतिरूप न समझना चाहिये। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी और उसका अध्यक्ष स्टालिन बहुत ही यथार्थदर्शी हैं और रूस को सचमुच प्यार करते हैं। वे अपने आदर्शों को इतनी यथार्थ और सहजभूमि पर ले आये हैं कि रूस के लेखकों के लिए पार्टी सचमुच एक कार्यक्षेत्र है जो उनकी कला को बल देता है। जिस तरह कल तक हर ईमानदार भारतीय साहित्यिक कांग्रेस के साथ था, कांग्रेस के आन्दोलनों के साथ सहानुभूति रखता था, क्योंकि वही एक राजनीतिक संस्था थी जो सचमुच भारत की जनता की प्रतिनिधि थी, उसी तरह रूस की

कम्यूनिस्ट पार्टी भी आज सचमुच रूसी जनता की प्रतिनिधि है और उसने रूस की परिस्थितियों से अपने आदर्शों को इतनी अच्छी तरह सन्तुलित कर लिया है कि अपने युग-निर्माण में सहायता देनेवाला कोई रूसी साहित्यिक, पार्टी का विरोधी नहीं हो सकता। रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी रूस के लिए है, भारत के लिए नहीं, जब कि भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी भारत के लिए नहीं है और चाहे जिसके लिए हो। एक भारतीय कम्यूनिस्ट लेखक नाजियों के खिलाफ़ लड़नेवाले छापामारों की प्रशंसा में महाग्रन्थ लिख सकता है लेकिन अंग्रेजों के खिलाफ़ लड़नेवाले सन् ४२ के बहादुर हिन्दोस्तानी युवकों को वह जापान का एजेन्ट कह सकता है। उसके सामने अपना देश नहीं है।

रूसी लेखकों में यह बात नहीं है। जब वे पार्टी में शामिल होते हैं तो सबसे पहले उनके सामने अपना देश होता है। इसका सबसे दिलचस्प उदाहरण लेनिनग्राड की प्रसिद्ध कवियित्री वेरा इन्बर की डायरी है। वह पहले पार्टी की सदस्या नहीं थी किन्तु बाद में उसने पार्टी की सदस्यता के लिए प्रार्थना-पत्र दिया। जब पार्टी में इन्टरव्यू के बाद वह लौट रही थी तो उसने जो कुछ सोचा वह यह था—"पहले मैं जब कभी कुछ भी अच्छा लिखती थी तो मुझे बेहद खुशी होती थी, असफल रहती थी तो दुख होता था। लेकिन यह केवल व्यक्तिगत दुःख-सुख था। लेकिन अब जब मैं लिखती हूँ तो सोचती हूँ कि यह सोवियट साहित्य को बढ़ाने में कितना सहायक होगा। सोवियट साहित्य भी तो उस महान विकास का एक भाग है, मेरे प्यारे देश का विकास—मेरा प्यारा देश जो संसार का सर्वप्रथम समाजवादी देश है!"

अपने देश, अपने प्यारे देश के लिए कितनी सुलगती हुई भावनाएँ आज सोवियट लेखकों के मन में हैं यह १६ सितम्बर सन् ४४ के 'सोवियट लिटरेचर एण्ड आर्ट' में छपी हुई यूरी क्रामोव पर ए० क्रान की श्रद्धांजलि से मालूम होता है—

"हमारी सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात में कि हम मानवता के विकास में अपने को मिटा सकें। यह मानव के अस्तित्व का महानतम अर्थ और आदर्श है और इस महान बलिदान की तैयारी में अगर हम पूरा एक जीवन बिता देते हैं तो भी कोई बड़ी बात नहीं! जिस जीवन में संघर्ष न हो, निर्माण की टीस न हो, एक ऐय्याश की जिन्दगी जिसके अपने पंख न हों और जो केवल स्वार्थ के उद्देश्यों से संचालित होती हो, वह आदमी को पतित बना देती है और उसकी आत्मा को कमजोर बना देती है। उसे वह आनन्द, वह निश्छल और स्वार्गिक आनन्द कभी नहीं मिल पाता जो उन लोगों को मिलता है जो इतिहास के चक्के को आगे बढ़ाया करते हैं।"

और सचमुच इतिहास के चक्के को आगे बढ़ाने में सोवियट लेखक कितने सशक्त हैं, यह पिछले युद्ध में साबित हो चुका है। किसी भी अमेरिकन लेखक ने अमेरिका के लिए वह नहीं लिखा, किसी भी इंगलिश लेखक ने इंगलैण्ड के लिए वह नहीं लिखा, जो इल्या एहरेनबुर्ग ने रूस के लिए लिखा। बिना किसी बाहरी दबाव के हर लेखक ने उस युद्ध की भीषणता को अनुभव किया और संग्राम में लगी हुई अपनी महान् रूसी जाति के पसीने में कलम डुबोकर अपना साहित्य लिखा।

उसी समय हिन्दोस्तान की अभागी धरती पर भी एक आजादी की खूनी लड़ाई लड़ी जा रही थी। एक ओर हैलेट, नेदरसोल और लिनलिथगो थे जिनका खून नाजियों के शुद्ध आर्य रक्त से भी ज्यादा जहरीला था और दूसरी ओर हिन्दोस्तानी थे, रूसियों से कहीं ज्यादा कमजोर और निहत्थे, लेकिन उस वक्त हिन्दोस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी के लेखकों की जुबान चुप थी। वे रूसी जाति के दुख से दुखी थे। उस समय नरेन्द्र लिख रहे थे, "उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ मन तेरी ही बस्ती क्या?" लेकिन उन्हें इस विशाल देश का ध्यान नहीं आया जो सन् ४२ में श्मशान से भी ज्यादा भयंकर बन गया था।

स्टालिनग्राड पर आल्हा बन गया था, लेकिन अष्टीचिमूर पर किसी से एक अक्षर भी न बोला गया था। सुमन ने लिखा था—"दस हफ्ते दस साल बन गये, मास्को अब भी दूर है!" लेकिन हिन्दोस्तान की जनता का दुखदर्द भी उनके माइक्रोफोन से बहुत दूर था।

इसलिए हमें रूस की कम्यूनिस्ट पार्टी और हिन्दोस्तान की कम्यूनिस्ट पार्टी का अन्तर भली-भाँति समझ लेना चाहिये। रूसी लेखकों का कम्यूनिस्ट पार्टी के प्रति झुकाव और श्रद्धा होना स्वाभाविक है। वहाँ की कम्यूनिस्ट पार्टी ने अपने कामों और उदार सिद्धान्तों के आधार पर वहाँ के लेखकों को जीता है, प्रचार या तानाशाही के बल पर नहीं। तानाशाही का नतीजा बुरा ही भोगना पड़ा।

वैसे अब भी कुछ अमेरिकन पत्र इस बात का प्रचार कर रहे हैं कि साहित्य पर कम्यूनिस्ट तानाशाही है, लेकिन वह पूँजीवादियों का प्रतिक्रियावादी प्रचार मात्र है। 'कोलियर्स' में एक लेख छपा है जिसमें यह है कि एक आपेरा के गीत की इसलिए कम्यूनिस्ट पार्टी ने निन्दा की है कि स्टालिन उसकी लय पर सीटी नहीं बजा सका। लेकिन इस प्रकार के अमेरिकन प्रचार की असलीयत को अब एक पढ़ा-लिखा व्यक्ति अच्छी तरह पहचानता है।

मोलोटोव को रूस का सबसे संकीर्ण अनुदार और शक्की कम्यूनिस्ट कहा जाता है। उसने स्वयम् ६ नवम्बर सन् ४५ को कहा था—"अब सोवियट कलाकार और सोवियट जनता में एकात्म स्थापित हो गया है।" यही बात अप्रैल सन् ४६ में होनेवाले अखिल सोवियट-गद्य-लेखक-सम्मेलन से जाहिर हुई थी।—१३ अप्रैल के गजट में उसके बारे में निकला था—"पहले ही दिन से यह स्पष्ट हो गया था कि रूस की अमर साहित्यिक परम्परा के प्रति एक अन्धश्रद्धा में वे एक मत थे, राजनीतिक

विचार एक थे और सभी अपना गम्भीर उत्तरदायित्व पहचानते थे। यों बहुत से वाद-विवाद हुए जो उपयोगी थे, लेकिन सोवियट साहित्य के लक्ष्य, आदर्श, और निर्माण शैली के विषय पर उनमें रत्ती भर मतभेद नहीं था। विभिन्न लोग, विभिन्न व्यक्तित्व, विभिन्न प्रतिभा लेकिन सबका एक सिद्धान्त—सामाजिक यथार्थवाद, और एक ही लक्ष्य—अपने महान् देश की उन्नति!"

लेकिन हमें अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि सोवियट लेखक तभी जनता से घुलमिल सका जब उसे राज्य या पार्टी के शिकंजे से आजाद कर दिया गया और उसके स्वाभिमान, उसकी स्वाधीन चिन्ता और उसकी आजाद कलम को पंख फैलाने के लिए विस्तृत आकाश दिया गया।

कहा जाता है इधर रूसी साहित्य पर पार्टी की फिर वज्र नजर पड़ रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साहित्य पर नियन्त्रण बढ़ाया जा रहा है। साहित्यिक संघों को बार-बार इस बात का ध्यान दिलाया जा रहा है कि वे अपने मूल आदर्श न भूलें। 'ज्वेज्द' और 'लेनिनग्राद' नामक पत्रों को इस बात की चेतावनी दी गई है कि वे आदर्शात्मक आलोचना पर ध्यान नहीं देते। सोवियट लेखक संघ के सभापतित्व से टिखानोव को हटा दिया गया, जोशेंको और आख्मातोवा को संघ से निकाल दिया गया है और संघ का पुनर्संगठन किया गया है।

इस सब का आधार कम्यूनिस्ट पार्टी के जेनरल सेक्रेटरी ज्डैनोव का एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव है जिसमें उसने बताया है कि सोवियट कला पर विदेशी बोर्जुआ कलाओं का पतनोन्मुख प्रभाव पड़ रहा है। उसी के संकेत पर कुछ अमेरिकन चित्रों को भी हटा दिया गया है। फिल्म निर्माताओं की भी इस बात के लिए निन्दा की गई है कि वे सस्ते मनोरंजक खेल बना रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि फिर स्टालिन की नीति में परिवर्तन आ गया है

लेकिन इसका मुख्य कारण है अमेरिका के प्रति रूस की सशंकित भावना ! युद्ध समाप्त होते ही अमेरिका ने जिस प्रकार अपने पत्रों में जहरीला प्रचार रूस के खिलाफ करना शुरू कर दिया है, उससे रूस फिर दूसरे युद्ध की तैयारियों में जुट गया है और वह सभी अमेरिकन तत्वों को रूसी संस्कृति से निकाल देना चाहता है। अगर इसके लिए उसने फिर एक बार कम्यूनिस्ट तानाशाही की गलती की तो यह उसकी भूल होगी। लेकिन अगर फिर रूसी साहित्य को एक बार अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी तो इसका जिम्मा पूँजीवादी राष्ट्रों पर होगा जिन्होंने रूस को शान्त बने रहने देने के खिलाफ कसम खाली है। अगर हम अमेरिकन साहित्य में रूस के खिलाफ गन्दा प्रचार देखें, ध्यान से देखें, तो हम रूस की प्रतिक्रिया को समझ सकते हैं। आखिरकार नफरत से नफरत ही तो पैदा हो सकती है न !

प्रगतिवादी साहित्य में कलात्मक तत्वों का अभाव
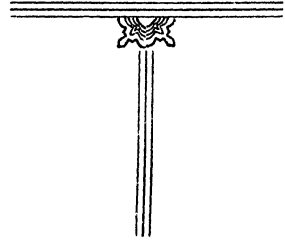
८ अप्रैल सन् १९४४ के 'साहित्य और कला' नामक सोवियट पत्र में प्रसिद्ध आलोचिका श्रीमती मोटीलेवा ने अपने एक लेख में लिखा है—"मुझे एक वार्त्तालाप याद आ गया जो दैवयोग से मैंने सुन लिया था। विश्वविद्यालय के साहित्य विभाग का एक प्रतिभाशील विद्यार्थी जिसके पक्ष में बहुत से लोग थे, बहुत गरम बहस कर रहा था। वह कह रहा था—'काव्य में सौन्दर्य प्रमुख है कवि अपनी व्यक्तिगत देन देता है। उसको पूरा अधिकार है कि वह अपने युग की राजनीति की उपेक्षा कर दे—हम उसको राजनीति में नहीं जकड़ सकते!"

यदि हम इस मनोवृत्ति का सूक्ष्म विवेचन करें तो हम देखेंगे कि ऐसे लोगों की कमी नहीं जो प्रगतिवादी साहित्य पढ़ने के बाद इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि साहित्य को राजनीति से अलग रक्खा जाय तो ज्यादा अच्छा है। इस प्रकार के पाठकों में से अधिकांश पाठक राजनीति में भाग लेते हैं लेकिन साहित्य में राजनीति का विरोध करते हैं।* यद्यपि मैंने यह भी देखा है कि जब वे डिकेन्स का 'टेल ऑफ टूसिटीज', विक्टर ह्यूगो का 'लॉ मिजरासब्स', टाल्सटाय का 'वार एण्ड पीस' या शरत का 'पथेर दावी' पढ़ते हैं तो झूम उठते हैं और इन लेखकों की इन कृतियों में आई हुई राजनीति पर चिढ़ते नहीं, उसका रसास्वादन करते हैं।

इससे स्पष्ट है कि ये पाठक, जो अपनी मनोवृत्तियों में पलायनवादी नहीं होते, ये लोग भी प्रगतिवादी साहित्य में राजनीति का विरोध इसलिए करते हैं कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य (भारत में) न तो प्रगतिवादी ही होता है और न साहित्य ही। एक प्रगतिवादी साहित्यिक यह भूल जाता है कि वह राजनीति पैम्फलेट नहीं लिख रहा है, अखबार का सम्पादकीय नहीं लिख रहा है, वह साहित्य लिख रहा है जिसका मूल्य अधिक स्थायी है, जिसकी पैंठ अधिक गहरी है और जिसके लिए एक कलात्मक चतुराई की आवश्यकता होती है। एक लेखक के लिए अपने जीवन-दर्शन का सँवारना जितना आवश्यक होता है, उतना ही आवश्यक होता है अपनी कलम सँवारना। एक लेखक यह नहीं भूल सकता कि मार्क्सवादी होने पर भी वह लेखक ही है और मार्क्सवादी साहित्य लिखने पर भी वह साहित्य ही लिख रहा है। वह उन नियमों से अलग नहीं जा सकता जो साहित्य को हमेशा से सञ्चालित करते आये हैं और जिन्होंने सदा साहित्य के नये रूपों का निर्माण किया है। जितना आवश्यक और महत्वपूर्ण यह होता है कि कलाकार क्या कहना चाहता है उतना ही आवश्यक यह होता है कि वह उसे कैसे, किस भाषा में, किस शैली में, किस ढङ्ग से कहना जानता है! एक सफल कलाकार को कला की वाह्य अभिव्यक्ति को उतनी ही सूक्ष्मता से ग्रहण करना पड़ता है जितनी सूक्ष्मता से वह अपनी अनुभूति को ग्रहण करता है।

यह तो कहना व्यर्थ है कि भारतीय प्रगतिवादी लेखकों में से अधिकांश उच्चवर्गीय लेखक थे, जो जन-आन्दोलन से दूर थे और वे उन सूक्ष्मतम अनुभूतियों को ग्रहण करने में असमर्थ थे जो गोर्की या कुप्रिन ने जनता में घुल-मिलकर ग्रहण की थीं; साथ ही साथ उन्होंने साहित्य के कलात्मक रूप पर भी कुछ ध्यान देना ठीक नहीं समझा और शायद उनका ख्याल था कि कहानियों, कविताओं, या उपन्यासों

में नारे छपवा देने से ही वे उच्च कलाकारों की कोटि में पहुँच जायँगे। लेकिन उनका यह सपना बेकार साबित हुआ।

साहित्य के लिए टेकनीक की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। मुझे अच्छी तरह याद है कि प्रगतिवादी कहे जानेवाले एक बहुत प्रसिद्ध कवि ने एक बार मुझसे 'शेखर' के द्वितीय भाग के विषय में कहा था—"अज्ञेय प्रगतिवादी तो नहीं हैं, लेकिन उनकी यह कृति जोरदार कलाकृति है!"

इससे स्पष्ट है कि साहित्य होने के लिए, साहित्य की कोटि में आने के लिए किसी भी रचना का केवल प्रगतिवादी होना काफी नहीं उसे साहित्यिक होना चाहिये, उसे साहित्य के अपने नियमों से निर्देशित होना चाहिये। उर्दू के प्रगतिशील कलाकारों ने इसे बहुत अच्छी तरह समझा है। गद्य हो या पद्य उन्होंने नई ज़मीने तोड़ी हैं, नई दिशाएँ खोजी हैं, कला को सँवारा है और मैं तो यह कह सकता हूँ कि अहमद नदीम कासिमी, कृष्णचन्द्र और सरदार जाफरी की टेकनीक पर कोई भी भाषा गर्व कर सकती है। लेकिन हिन्दी के प्रगतिवादी लेखकों ने सिवा छायावाद के विरुद्ध लेख लिखने के, कला के तत्व को समझने का जरा भी प्रयास नहीं किया, टेकनीक को सम्हालने की समझदारी नहीं दिखाई और सिवा रांगेय राघव❀ के किसी भी हिन्दी प्रगतिवादी लेखक की टेकनीक में न मौलिकता है न नवीनता, न प्रभाव और न वह गुण जो उसे स्थायी साहित्य बना सके। हिन्दी के लेखकों की टेकनीक के प्रति यह उपेक्षा न केवल साधारण पाठकों को खली है वरन् स्वयं प्रगतिवादी क्षेत्र के ईमानदार आलोचक शिवदानसिंह चौहान ने इसके खिलाफ आवाज उठाई है। उन्होंने लिखा है—"हिन्दी

❀ अभी हाल में ही डा० रामविलास शर्मा ने 'हंस' में अपने परशुराम के कुल्हाड़े से रांगेय राघव की भी खबर ले डाली है। वे भी यहाँ के प्रगतिवाद की कसौटी पर खोटे उतरे।

में प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर जो भी कूड़ा-कर्कट लिखा गया है उसे देखकर शर्म आती है !"

रूस में परिस्थिति कुछ दूसरी ही रही। जिस समय रूस में क्रान्ति हुई और नई चेतना को विकास पाने का अवसर मिला उस समय रूसी साहित्य टेकनीक के प्रयोगों में व्यस्त था। प्रतीकवादी, इमेजवादी, एकमीस्ट ये सभी साहित्य की विभिन्न टेकनिकों में प्रयोग कर रहे थे। मायकावस्की जिसने अपने को प्रोलेटेरियट कवि घोषित किया, उसका भी विद्रोह मूलतः शैलीगत विद्रोह था। उसने कविता की भाषा, अभिव्यंजना शैली आदि में नये प्रयोग किये, नये सुझाव दिये।

उस समय कम्यूनिस्ट क्षेत्रों में दो मत थे। एक ओर तो उदार साहित्यिक और समझदार कम्यूनिस्ट थे जो साहित्य का साहित्यिक महत्व समझते थे। दूसरी ओर वे संकीर्णमना मार्क्सवादी थे जो टेकनीक का महत्व न स्वीकार कर केवल साहित्य की राजनीतिक गुलामी का नारा लगाते थे। इन विचारकों में से आवरबाख़ प्रमुख था। उसी के एक अनुयायी कोगन ने १६२४ में कहा था—"मुझे इसमें कोई दिलचस्पी नहीं कि रूसी साहित्य की टेकनीक में क्या प्रयोग हो रहे हैं। भाषा, वाक्य, रसानुभूति आदि के बारे में यदि कोई प्रयोग करता है तो उससे हमें क्या मतलब ! कलाकार को कभी समझ-बूझकर तो साहित्य लिखना ही नहीं चाहिये। वह तो अपने युग की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसे तो अचेतन प्राणी की तरह होना चाहिये !" कोगन तो इस विषय में इतना संकीर्णमना था कि उसके अनुसार कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो संसार का महानतम साहित्य था।

लेकिन उन्हीं दिनों वसन्त ऋतु की कम्यूनिस्ट पार्टी की बैठक ने लेखकों को यह सलाह दी थी कि वे "प्राचीन महान् लेखकों की कला का अध्ययन करें और उसे पचाकर नवीन युग के लिए नई कला का निर्माण करें।"

इस समय तक रूस में ऐसे उदार और दूरदर्शी विचारक थे जिन्होंने दो बातें स्वीकार कर ली थीं—

पहली तो यह है कि राजनीतिक प्रचार से अलग साहित्य का अपना कलात्मक मूल्य है। ऐसे विचारकों में लेनिन प्रमुख था। उसने मायकावस्की की एक कविता की तारीफ करते हुए इन दोनों में स्पष्ट विभाजन-रेखा खींचते हुए कहा था, "मैं कविता की बात तो नहीं जानता लेकिन मायकावस्की की पंक्तियों में राजनीति का सच्चा विवेचन है।"

दूसरी बात उन्होंने यह मान ली थी कि नये साहित्य का कलात्मक स्वरूप भी पिछले युगों के साहित्य के कलात्मक स्वरूपों का अध्ययन करके ही निर्मित हो सकता है। एंजेल्स ने स्वयम् प्राचीन साहित्य के कलात्मक मूल्य के सामने सर झुकाया था। १२ मई १८५६ को लास्साल को लिखे गये एक पत्र में एंजेल्स ने लिखा था—भविष्य की कला में "शेक्सपीयर की स्वाभाविकता और टेकनिक के साथ नया आदर्श गूँथ देना होगा!"

लेकिन हम जानते हैं कि सन् १६२६ के बाद आर० ए० पी० की स्थापना हुई और आवरबाख की राजनीतिक तानाशाही कायम हुई। उसमें साहित्य के कलात्मक रूप को गला घोंटकर मार डाला गया। किन्तु समाजवादी यथार्थवाद के आते ही फिर कला को थोड़ी स्वाधीनता मिली। और अब फिर सोवियट कलाकार शैली और टेकनीक में नये प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने साहित्य का कलात्मक रूप पहिचाना है और उसे समुचित प्रोत्साहन दे रहे हैं। २० अप्रैल सन् ३६ का लिटरेरी गजट लिखता है—"हमारे साहित्य के विरुद्ध यह लिखा जाता है कि यह निरा प्रचार है। इसका निराकरण तभी हो सकता है जब हम पाश्चात्य जगत के सामने उस सौन्दर्यानुभूति और रस-सिद्धान्तों को रक्खें जो हमने इधर अपने साहित्य में ग्रहण किये हैं।·········साहित्य में हमारे नये प्रयोग बहुत ही

महत्त्वपूर्ण हैं और उन्हें दुनिया के सामने रखना चाहिये।"

कलात्मक शैलियों में नवीन प्रयोगों को स्थान देते हुए भी सोवियट आलोचक केवल टेकनीकवाद को निरुत्साहित करते हैं। टेकनीकवाद के अर्थ हैं वह साहित्य जहाँ कलाकार के पास अपनी कोई मौलिक देन नहीं होती और वह केवल शैलियों से खिलवाड़ करता है। कुछ उस प्रकार की पद्धति जो हमें रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में दीख पड़ती थी। उस प्रवृत्ति को कोई भी स्वस्थमना लेखक नहीं अपनाता। किसी भी देश में उसे प्रोत्साहन नहीं मिलता।

वैसे तो सामाजिक यथार्थवाद ही वर्तमान रूसी साहित्य की टेकनीक स्वीकार कर लिया गया है, लेकिन उसी सीमा में साहित्यकार को नये मौलिक प्रयोगों की काफी स्वतन्त्रता दी गई है और वह उस ओर ध्यान भी दे रहा है। उन्हें कितनी स्वतन्त्रता मिली हुई है यह तो ए० बेलेट्स्की के एक लेख 'नये तवस्सुम की ओर' (२४ नवम्बर, १६४५ लिटरेरी गजट) से मालूम होता है।

वह लेखकों और आलोचकों को उत्साहित करते हुए लिखता है कि "बहुत से लेखक आज इस बात से डरते हैं कि उन्हें टेकनीकवादी कह दिया जायगा। नये प्रयोगों के क्षेत्र में न उतरने से उनकी कला नपुंसक हो गई है।"

१६ नवम्बर, १६४५ के 'सोवियट आर्ट' में योगैन्सन लिखता है—"अपनी टेकनीक में प्रयोग करनेवाले कलाकार को इस बात से न डरना चाहिये कि जनता उसे न समझेगी। जनता उसको नहीं समझेगी जो जिन्दगी से दूर होगा, और जो जिन्दगी से दूर होगा वह महान साहित्य नहीं। जो महान साहित्य है वह स्वयम् जनता को इतना शिक्षित कर देता है कि जनता उसे समझ ले।...... इसके अलावा जनता बहुत से व्यक्तिवादी कलाकारों को नहीं समझ सकती लेकिन इसके मतलब यह नहीं कि उन कलाकारों के प्रयोगों ने युग की कला को प्रभावित नहीं किया है। क्या साहित्यकार को उन महान टेकनिक-

कारों की उपेक्षा करनी चाहिये या उनसे सीखना चाहिये ? बहुत से कलाकार जनता के कलाकार नहीं, कलाकारों के कलाकार होते हैं। उन्हें भी उतना ही महत्व मिलेगा जितना अन्य कलाकारों को। जहाँ दूसरे कलाकार जनता को नया रास्ता दिखाते हैं, वहाँ ये कलाकार कलाकारों को नया रास्ता दिखाते हैं।"

सोवियट रूस के साहित्यिक अपने साहित्य के कलात्मक रूप को सँवारने में कितने सजग और सचेष्ट हैं और उन्होंने कलाकार को कितनी स्वाधीनता दे रक्खी है यह ऊपर के उद्धरणों से स्पष्ट है। वे लोग अब टेकनीक पर ध्यान दे रहे हैं, प्राचीन साहित्य के सभी रूपों को समझकर अपने साहित्य में उन्हें समुचित स्थान दे रहे हैं। यहाँ तक कि अब उनका आग्रह केवल यथार्थवाद पर नहीं रह गया है। वेलिस्की ने तो पिछले सम्मेलन में यह सुझाव रक्खा था कि सामाजिक यथार्थवाद के साथ ही साथ सामाजिक संकेतवाद (या सामाजिक छायावाद) को भी प्रोत्साहन देना चाहिये। वे साहित्य के प्राचीन रूपों की ओर इतना अधिक झुक गये हैं कि वेलिट्जकी वर्तमान रूसी साहित्य को Classical realist या 'शाश्वत यथार्थवादी' कहकर पुकारता है।

लेकिन जब हम भारतीय प्रगतिवादी लेखकों की ओर देखते हैं तो हमें निराशा होती है। सिवा शिवदानसिंह चौहान के किसी ने भी कलात्मकता का मूल्य नहीं पहचाना है और चौहानजी के विचारों को भी समुचित महत्त्व उस क्षेत्र में नहीं मिल रहा है। सबसे घातक बात तो यह है कि भारतीय प्रगतिवादी बिना समझे हुए छायावादी और रोमांटिक[1] शैली का विरोध कर रहे हैं और उस महान काव्य-परम्परा की उपेक्षा कर देना चाहते हैं जो १२वीं सदी से हिन्दी में ढलती

---

१. कल्पना और यथार्थ दोनों ही मानव जीवन के अंग हैं। साहित्य में भी केवल यथार्थवादी शैली से मनुष्य कभी सन्तुष्ट नहीं रह सकता

आई है। वे हिन्दी की काव्य-शैलियों की उपेक्षा तो कर ही रहे हैं साथ ही साथ साहित्य के उस कलात्मक मूल्य को भी नहीं स्वीकार करते जिसे सोवियट साहित्य ने स्वीकार कर लिया है। दृष्टिकोण की संकीर्णता और कलात्मकता की उपेक्षा के कारण भारतीय प्रगतिवादी साहित्य में आज न तो प्रगति है न साहित्यिकता!

और घूम-फिरकर छायावादी शैली का आना आवश्यक है। रूस में भी फिर सोवियट संकेतवाद की आवाज उठ रही है। यथार्थवाद के बाद छायावाद उतना ही अवश्यंभावी है जितना उमस के बाद बारिश, या अँधेरे के बाद उजियाला।

क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ?
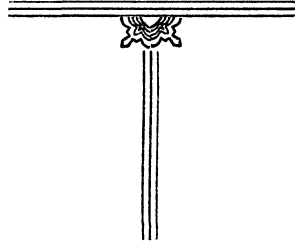
मार्क्सवादी साहित्य की जो व्याख्या आवरबाख़ जैसे आलोचकों ने की थी, उसके अनुसार, हम देख चुके हैं, कि व्यक्ति का कोई महत्व नहीं था। केवल बाह्य परिस्थितियाँ ही सब कुछ थीं और बाह्य परिस्थितियों के अनुसार ही साहित्यिक लिखता था। लेखक का व्यक्तित्व केवल उन प्रवृत्तियों का पुंजीभूत चरित्र था जो प्रवृत्तियाँ वर्ग और उसके युग की आर्थिक परिस्थितियों से उद्भूत होती थीं। उस अवस्था में व्यक्ति का कोई महत्व नहीं था और वैयक्तिक मनोविज्ञान का भी कोई विशेष प्रश्न नहीं उठता था। आवरबाख के सहयोगी आलोचक पेरेवर्जव का कहना था—"साहित्य में कोई व्यक्ति नहीं होता। बायरन को समझने के लिए हमें इंगलैण्ड के उच्च वर्ग की परिस्थितियाँ समझनी चाहिये। वही 'बायरन' हैं। बायरन कोई व्यक्ति नहीं था।"

जब उस समय व्यक्ति का ही अस्तित्व नहीं माना जाता था तो व्यक्ति के अन्तर्जगत के महत्त्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। मार्क्सवादी साहित्यकार केवल समाज की परिस्थितियाँ समझना चाहते थे और उनका विचार था कि वे परिस्थितियाँ यान्त्रिक रूप से व्यक्ति का निर्माण करती हैं। अतः मनोविज्ञान का कोई अर्थ नहीं, मनोविज्ञान को एक बोर्जुआ ज्ञान करार दिया गया।

लेकिन बाद में इसका विरोध किया गया और इस विचारधारा को वल्गर सोशलिज्म कहकर पुकारा गया। व्यक्ति का महत्त्व सोवियट साहित्य में स्वीकार किया गया। इसका मुख्य कारण यह था कि सोवियट साहित्य एक विचित्र सा घिरौंदा बन गया था जिसमें कोई जीवित व्यक्ति नहीं था, केवल गुड्डे-गुड़ियाँ अपने-अपने वर्ग और दल का लेबल लगाये लेखक के इशारे पर नाचती रहती थीं। वह जीता-जागता साँस लेता हुआ साहित्य नहीं लिखा जा सका, जिस पर किसी भी राष्ट्र को अभिमान हो सकता था। इसके खिलाफ सभी आलोचकों ने आवाज उठाई। इसका एक कारण था। साहित्य का आधार व्यक्ति ही है। जीवन और मौत, दुख और सुख, अँधेरा और उजाला, अतीत और वर्तमान सभी की अभिव्यक्ति साहित्य में, व्यक्ति के माध्यम से होती आई है और होती रहेगी। एक उपन्यासकार अपने उपन्यास में जब एक व्यक्ति का चरित्र उठाता है तो उस चरित्र के माध्यम से वह एक जीवन-दर्शन देता है, एक विशेष व्यक्तित्व रखता है और परिस्थितियों से उसका संघर्ष या सन्तुलन दिखला कर हरेक पाठक के सामने जीवन की नई दिशा रखता है। मानव की प्रगति में, विशेषतया साहित्य के माध्यम से आनेवाली प्रगति में, वाह्य परिस्थितियों की अपेक्षा, अन्तर्जगत का महत्त्व अधिक होता है। प्रत्येक पात्र के अन्तर्जगत में दिखाई जानेवाली उथल-पुथल उस युग के ढाँचे में होने वाली उथल-पुथल पर एक commentry, एक व्याख्या होती है। अन्तर्जगत के माध्यम से प्रस्तुत की जानेवाली यह व्याख्या, यह जीवन-दर्शन ही किसी भी कलाकृति को महान बनाता है। जिस साहित्य में अन्तर्जगत (मनोविज्ञान) के माध्यम से आनेवाला यह जीवन-दर्शन नहीं होता वह साहित्य कभी भी प्रथम श्रेणी का साहित्य नहीं कहा जा सकता। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक राल्फ फाक्स ने 'नावेल एण्ड द पीपुल' में लिखा है—

"यह सच है कि उपन्यास लिखना एक दार्शनिक साधना है।

दुनिया के महान उपन्यास इसलिए महान हैं कि उनके पीछे विचार-तत्व की प्रधानता है, क्योंकि वे जीवन की उच्च कल्पना-प्रवण और भावोन्मेषित व्याख्याएँ हैं। यही वह मुख्य गुण है जो प्रथम श्रेणी और द्वितीय श्रेणी की कला में विभाजन-रेखा खींचती है।"

लेकिन शुरू-शुरू में संकीर्ण मार्क्सवादियों ने पेरेवजेव जैसे आलोचक, आवरबाख जैसे विचारक और पोक्रोवस्की जैसे ऐतिहासिकों ने साहित्य का यह व्यक्ति वैचित्र्यता, यह अन्तर्जगत के माध्यम से दिया जानेवाला जीवन-दर्शन छीन लिया। सोवियट उपन्यास साधारण श्रेणी के पात्रों के जीवन की नीरस कहानियों में उलझ गया। उसके पास कोई स्थायी संदेश नहीं रह गया। इसी स्थिति पर आलोचना करते हुए युद्ध-काल में पटजव ने कहा—"मैं उन बेतह के पात्रों का विरोध करता हूँ जिनमें न कोई युग का सन्देश है, न किसी जीवन-दर्शन का प्रतीक बन पाने की सामर्थ्य। मैं चाहता हूँ कि सोवियट लेखक मनुष्य को केवल लाल सेना का सिपाही, कारखाने का मजदूर या पार्टी का कार्यकर्ता ही न समझे वह मनुष्य को एक व्यक्ति के रूप में देखे।"

कथा-साहित्य के पात्रों की व्यक्तित्व-हीनता का विरोध करते हुए राल्फ फाक्स ने भी लिखा था—"ये हजारों यथार्थवादी कही जानेवाली कृतियाँ, जिनके लेखकों में न कला होती है, न आन्तरिक प्रेरणा होती है, न ऊँची रचनात्मक प्रतिमा होती है, ये कृतियाँ अपने प्रकाशन के महीने भर बाद ही बासी हो जाती हैं। आज का उपन्यासकार अपने पात्रों का व्यक्तित्व बनाने के बजाय, एक महान व्यक्तित्व वाला नायक बनाने के बजाय साधारण लोगों का साधारण परिस्थितियों में दिखलाने का प्रयास करता है। एक तूफानी अन्तर्जगतवाले नायक की उपेक्षा करना साहित्य में युगों से चली आनेवाली मानववादी परम्परा का अपमान करना है।"

राल्फ फाक्स ने यह भी कहा था कि उपन्यासों में पात्रों के मनोजगत

की उपेक्षा कर कोई भी लेखक किसी भी प्रभावशाली स्थायी साहित्य का निर्माण नहीं कर सकता है।

किसी भी सिद्धान्त को पात्रों के अन्तर्संघर्ष और मनोवैज्ञानिक उथल-पुथल के द्वारा न रखकर संकीर्ण मार्क्सवादी साहित्यिक नारेबाजी का आश्रय लेते हैं। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि हड़ताल के समय किसी बच्चे को गोली लगी और उसका पिता उसकी लाश पर खड़े होकर जारशाही और पूँजीवादी व्यवस्था के खिलाफ अच्छा खासा लेक्चर दे रहा है। बातचीत में लम्बे-चौड़े राजनीतिक या मार्क्सवादी व्याख्यान, यह एक ऐसा भोंड़ा तरीका था जिसने साहित्य का सारा सौन्दर्य छीन लिया था। स्वयं मार्क्स इस पद्धति के बहुत खिलाफ था। कुमारी हार्किन्सन के नाम मार्क्स ने अपने एक पत्र में लिखा था—"लेखक के सिद्धान्त तो जहाँ तक छिपे रहें, वहीं तक अच्छा है। मैं जिस यथार्थवाद की बात कर रहा हूँ उसमें लेखक की लम्बी चौड़ी व्याख्याओं के लिए स्थान नहीं है।"

नारेबाजी के अलावा दूसरा साधन, जिसके द्वारा मनोवैज्ञानिक चित्रण के अभाव में, लेखक पाठक को प्रभावित करने का प्रयास करता था, वह था भीड़भाड़ और विशाल जनता का चित्रण। सोवियट उपन्यासों में लाखों की तादाद में बढ़ती हुई जनता दिखलाई जाती थी, लेकिन हमें याद रखना चाहिये कि साहित्य के वातायन पर लाखों की जनता का शोरोगुल धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है, लेकिन तनहाइयों की नीरवता में किसी प्रभावशाली व्यक्तित्व की छाया हमारी आत्मा को हमेशा के लिए अभिभूत कर लेती है। लेकिन प्रारम्भ में तो एक महान जनसमूह ही सोवियट उपन्यास का मुख्य पात्र रहा। पेरेफिमोविच के 'लोहे की बौछार' में हमें इस जनसमूह का बड़ा जोरदार चित्रण मिलता है—"ये हजारों आदमी हैं, लाखों करोड़ों आदमी... इनमें कोई इकाई नहीं, कोई विभाजन नहीं, कोई श्रेणी नहीं—सिर्फ एक विशाल असीम एकता है। यह महान जनता असंख्यों कदमों से

आगे बढ़ रही है, अनगिनत निगाहों से देख रही है, और इन लाखों करोड़ों आदमियों के दिल में एक ही धड़कन गूँज रही है !"

नये युग के विहान में बढ़ती हुई जनता का अस्पष्ट शोर और धूमिल चित्र चाहे समाज के ध्वंस के लिए उपयुक्त हो लेकिन निर्माण की समस्याओं और समाधानों को हमें फिर व्यक्ति के ही माध्यम से पेश करना होगा। किसी भी महल को गिराते समय चाहे सैकड़ों मजदूरों की कुदाल एक साथ उठे, लेकिन जब नींव पड़ चुकती है, दीवार उठने लगती है तब हर राजगीर आहिस्ते से एक-एक ईंट चुनता है। उस समय हर ईंट के व्यक्तित्व का महत्व होता है और निर्माता को हर व्यक्तित्व को समाज के निर्माण में उचित स्थान देना होता है। अन्तर्जगत और वैयक्तिक मनोविज्ञान का महत्व सोवियट विचारकों ने माना, क्योंकि उन्हें निर्माण करना था।

१६४३ में प्रिश्विन ने 'जंगल की बूँदें' नामक पुस्तक में 'व्यक्तित्व' के विषय में लिखा—'यह एक फूल है और वहाँ वह दूसरा फूल खिला है। दोनों की जड़ें एक हैं, धरती भी एक है लेकिन बाहरी रूप बिलकुल विभिन्न ! यही मनुष्य के व्यक्तित्व का रहस्य है। दोनों फूल मिट्टी का परिवर्तित रूप हैं। लेकिन दोनों मिट्टी को अलग ढङ्ग से व्यक्त करते हैं। इसी तरह व्यक्तित्व, मूलतः चाहे समाज के ढाँचे में हो, एक हो, लेकिन फिर भी अपना अलग-अस्तित्व रखते हैं, अपना अलग रूप रखते हैं। एक 'व्यक्तित्व' होता है, जो वैयक्तिक होता है, जो समाज के अन्य सभी व्यक्तित्वों से अलग होता है, वह है मनोविज्ञान का आधार, दूसरा व्यक्तित्व सामूहिक व्यक्तित्व होता है, वह है संस्कृति का आधार।"

अभी तक मार्क्सवाद ने उस सामूहिक व्यक्तित्व का ही महत्व माना था जिसके आधार पर संस्कृति बनी होती है। सेरेफिमोविच द्वारा चित्रित जनता उसी सामूहिक व्यक्तित्व का प्रतीक थी। लेकिन धीरे-धीरे मार्क्सवादी विचारकों ने व्यक्ति का भी महत्व पहचाना। राल्फ

फाक्स ने लिखा—

"वास्तव में मार्क्सवाद व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता। यह सच है कि कुछ 'प्रोलेटेरियन' उपन्यासकारों ने इस तरह की गलत धारणा लोगों के मन में पैदा कर दी है, लेकिन यह मार्क्सवाद की नहीं, उपन्यासकारों की कमज़ोरी रही है!"

इस प्रकार मार्क्सवादी साहित्य में व्यक्ति का महत्व स्थापित हो जाने के बाद प्रश्न आया उसके अन्तर्जगत का और उसके मनोविज्ञान का समुचित रूप से चित्रण करने का। इस विषय में हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि सोवियट विचारकों ने यह स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य केवल आर्थिक परिस्थितियों की छाया नहीं है, वह निर्माता है और परिस्थितियों का स्वामी है, वह परिस्थितियों को बदलता है, और युगों का निर्माण करता है। राल्फ फाक्स ने ही लिखा था—"मार्क्स के जीवन-दर्शन का केन्द्रबिन्दु आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं वरन् मानव है। यह सच है कि आर्थिक परिस्थितियाँ आदमी को बदल देती हैं, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि आर्थिक परिस्थितियाँ खुद नहीं बदलतीं, आदमी ही उन्हें बदलता है और उन्हें बदलने के प्रयास में स्वयं आदमी भी बदल जाता है।"

इसको खूब अच्छी तरह समझकर ही पर्टजव ने ज्नाम्या, संख्या ६, १९४५ में लिखा था—"अगर मनुष्य इस संघर्ष का केन्द्रबिन्दु रहा है और रहेगा, तो वह इस संघर्ष में एक व्यक्तित्व के रूप में विद्यमान रहता है, एक ढले-ढलाये साँचे के रूप में नहीं।......एक कलाकार के लिए युग और सामाजिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति एक पात्र के व्यक्तित्व के ही माध्यम से हो सकती है। चरित्र, व्यक्तित्व के डोरे तोड़ देने के बाद न तो युग की समस्याओं का प्रतीक बन पाता है, न युग के दर्शन का समाधान ही दे पाता है।"

इस प्रकार सोवियट विचारकों ने धीरे-धीरे साहित्य में व्यक्तित्व या व्यक्ति के अन्तर्जगत को पूरा महत्व दिया, लेकिन उन्होंने पाश्चात्य

देशों में प्रचलित फ्रायड, आडलर या जुंग आदि मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्तों को नहीं अपनाया। इसका एक कारण था। विशेषतया फ्रायड का साहित्य समाजवादी निर्माण में खप नहीं सकता था। इसके अलावा इस पाश्चात्य मनोविज्ञान के आधार पर जो भी साहित्य आया था, उसे स्वयं पाश्चात्य आलोचकों ने ही बहुत 'शिवम्' नहीं माना था। लारेन्स के सेक्स-सम्बन्धी उपन्यास, जेम्सजायस के उपन्यास, ये सभी नवयुग के निर्माण से बहुत दूर, विचित्र से उलझे हुए मनोजगत का चित्रण करते थे, जिनमें एक बार आदमी उलझकर फिर बाहर नहीं निकल पाता था। दूसरी बात यह थी कि यह मनोविज्ञान आदमी के वैयक्तिक पहलू पर इतना जोर देता था कि मानवता का सामाजिक पहलू सर्वथा उपेक्षित रह जाता था। और इस मनोविज्ञान में जो प्रतिभाएँ भी उलझीं, उनके पंख इस तरह फँस गये कि वे कभी भी अपने व्यक्ति के सीमित क्षितिज के पार नहीं देख पाईं और उनका साहित्य हमें केवल एक फ्रस्ट्रेशन ही दे पाया, कोई स्वस्थ जीवन-दर्शन नहीं!

सोवियट रूस का वर्तमान सामाजिक यथार्थवाद का मनोविज्ञान मानव के वैयक्तिक अन्तर्जगत और सामाजिक बाह्य जगत का समन्वय है। उसमें नवीन पाश्चात्य मनोविज्ञान की सीमाहीन उलझन और निलक्ष्य उद्भ्रान्तता भी नहीं है और न संकीर्ण मार्क्सवाद की आर्थिक यान्त्रिकता। सोवियट साहित्य का नवीन मनोविज्ञान मानव के व्यक्तित्व पर पड़े हुए अगणित संस्कारों का रूप पहचानता है और आर्थिक संस्कारों के अलावा अन्य संस्कारों को भी साहित्य में समुचित स्थान देता है। स्वयं राल्फ फाक्स ने लिखा है—"अगर कोई आदमी मार्क्सवाद की यह व्याख्या करता है कि व्यक्ति के निर्माण में, समाज के निर्माण में, इतिहास के निर्माण में, केवल आर्थिक तत्व ही पूर्ण निर्णायक होता है, तो यह मार्क्सवाद की गलत व्याख्या है।" बाद में वह मानव के अन्तर्जगत में पड़े हुए संस्कारों का वर्णन करते हुए

कहता है—"ऊपरी ढाँचे के अनगिनत तत्व—वर्ग-संघर्ष का राजनीतिक रूप, हर वर्ग की विजय के बाद उसके द्वारा गढ़े गये हुए शासन-विधान, न्याय, दर्शन, धर्म इन सभी का प्रभाव पड़ता है और कभी-कभी इनका प्रभाव आर्थिक प्रभावों से बढ़ जाता है।"

लेकिन एक गम्भीर प्रश्न उठता है। मार्क्सवाद यह तो स्वीकार करता है कि मानव ही परिस्थितियों का निर्माता है, 'वह समाज को बदलता है और बदलने के दौरान में खुद भी बदल जाता है', लेकिन प्रश्न यह है कि क्या अपने अन्तर्जगत को बदले बिना वह बाह्य जगत् को बदल सकता है ? या केवल बाह्य जगत् को बदलना ही मानव के पूर्णतम विकास के लिए काफी होता है ?

और यही स्थल है जहाँ मार्क्सवाद बहुत से प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता ! मार्क्सवाद जिस नई समाज-व्यवस्था का हामी है उसका मूलमन्त्र है सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार का विनाश। लेकिन एक बहुत ज्वलन्त सत्य है कि वैयक्तिक सत्ता का विनाश होने के बाद भी एक अधिकार भावना रह ही जाती है और वह अधिकार भावना नई सामाजिक व्यवस्था में भी रह-रहकर व्यवधान पैदा करती रहती है। केवल सम परिस्थितियाँ ही पैदा कर देना काफी नहीं होता है। स्वर्ग बना लेने के बाद भी सबसे बड़ी बात होती है उस स्वर्ग में स्वर्गत्व की प्रतिष्ठा करना। उदार सामाजिक व्यवस्था बनाने के साथ ही साथ इस बात की चेष्टा करना कि मानव-चेतना में भी उदारता और महानता आये। सिर्फ मन्दिर बना लेना, देवमूर्ति की प्रतिष्ठा कर देना काफी नहीं होता, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण होता है मन में पूजाभाव जाग्रत करना। केवल मन्दिर के प्रांगण में खड़े होने से कोई पुजारी नहीं हो जाता। मार्क्सवाद मानव की चिरन्तन साधना के इस पहलू का महत्व नहीं पहचान पाता और यह उसकी एकांगिता है।

यह तो मार्क्सवाद ने स्वीकार कर लिया है कि मानव युगों का

निर्माता है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिये कि निर्माण निर्माता के ही अनुरूप होता है। निर्माण में निर्माता की आत्मा का स्वप्न प्रतिफलित होता है और जो कोई एक भव्य और महान वस्तु का निर्माण करना है, वह वस्तु बाह्य रूप धारण करने के पहले ही उसकी आत्मा में एक भव्य स्वप्न के रूप में जाग्रत हो उठती है। इसलिए निर्माता का अन्तर्जगत बहुत विशाल बनाना होगा, इसके पहले कि नवयुग का विशाल स्वप्न इसकी अन्तर्चेतना में अपने पंख फैला सके। इसलिए मानव न केवल सामाजिक व्यवस्था को बदलता है, न केवल सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करता है, वरन् वह अपने व्यक्तित्व को भी विशाल और उदार बनाता है और किसी भी बाह्य निर्माण के पहले अपना आन्तरिक निर्माण करता है। बाह्य निर्माण के लिए यह आन्तरिक निर्माण आवश्यक है, यह प्रथम आवश्यकता है, यह आधार भूमि है जिस पर युगों के बाह्य रूप का निर्माण होता है।

मैं यह नहीं कहता कि मनुष्य की आत्मा में जागनेवाला यह स्वप्न, परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता, अवश्य होता है किन्तु फिर भी मानव से अन्तर्जगत में कोई ऐसी शक्ति है जो बार-बार उसे परिस्थितियों पर विजय दिलाती रहती है, कोई ऐसा कृष्ण है जो अर्जुन के रथ को महाभारत में संचालित करता रहता है। अपने मन की उस शक्ति को पहचानकर ही आदमी हर युग में नया निर्माण कर सका है। उसके बिना मार्क्सवाद का बाह्य निर्माण अधूरा है।

और यहीं पर हमें समस्या का भारतीय समाधान मिलता है। वह शक्ति जो निरन्तर हमारे मनोविज्ञान को सन्तुलित कर उन्नतर बाह्य निर्माण के लिए प्रेरित करती रहती है, वह है अध्यात्म। हर युग, हर देश का महानतम साहित्य अध्यात्मवादी रहा है।

यह अध्यात्म, वह अध्यात्म नहीं है जो जीवन की परिस्थितियों से भाग कर जंगल में तप करने का उपदेश देता है, यह अध्यात्मवाद वह मानसिक पलायनवाद नहीं है जो वाह्य परिस्थितियों से घबड़ाकर अपने मन की रेत में शुतुरमुर्ग की तरह गर्दन छिपा लेता है; यह वह अध्यात्म है जो मानव को बल देता है, उसे नवीन निर्माण की ओर प्रेरित करता है, उसे परिस्थितियों से लड़कर नये जीवन दर्शन की स्थापना करने का साहस और शक्ति देता है और मानव को देवता बनाता है ताकि वह अपने स्वर्ग का निर्माण कर सके और उसमें देवताओं की सी पवित्रता से रह भी सके। हम समाज की व्यवस्था ठीक करलें, आर्थिक व्यवस्था ठीक कर लें लेकिन मानव की आत्मा में सुधार न करें तो आगे आनेवाली दुनिया का स्वरूप उस नन्दनवन का स्वरूप होगा जिसमें लाखों बन्दर रहते हों जो उसके फूल नोचकर फेंक दें, शाखें तोड़ डालें, क्यारियाँ बिगाड़ दें और अन्त में उसे खंडहर से भी ज्यादा भयावना बना दें। इसलिए जहाँ समाज को अधिक स्वस्थ और व्यवस्थित बनाने की समस्या है, तहाँ आज के साहित्यकार के सामने इसकी भी समस्या है कि वह व्यक्ति को जीवन के उच्चतम सौन्दर्य का मूल्य बतावे, उसकी संस्कृति में ऊँची नैतिकता, स्वर्गिक प्रेम और पवित्र अध्यात्म की प्रतिष्ठा करे।

केवल वाह्य परिस्थितियाँ बदलने से यह नहीं होगा, यह अलैक्जेण्डर कुप्रिन के जीवन की एक घटना से स्पष्ट है। अलैक्जेण्डर कुप्रिन गोर्की का सम-समायिक था और उसने वेश्याओं के दयनीय जीवन पर बहुत ही प्रभावशाली उपन्यास 'यामा द पिट' लिखा था, जिसका अनुवाद हिन्दी में 'गाड़ीवानों का कटरा' नाम से हुआ है। उसने अपने जीवन की एक घटना लिखी है। कुछ नवयुवक उससे यौन समस्याओं पर बातें कर रहे थे। उन युवकों ने अलैक्जेण्डर कुप्रिन से कहा "चाहे कोई भी परिस्थिति हो

लेकिन पुरुष के मन में हमेशा नई-नई स्त्रियों की प्यास उठती ही रहती है। कोई भी व्यवस्था हमारे मन की इस प्यास को नहीं मिटा पाती !"

"तब एक ही तरीका है", कुप्रिन बोला, "बीमारी का इलाज बाहर से नहीं होता, घर बदल देने से बीमार अच्छा नहीं होता। बीमारी का इलाज अन्दर से होता है। यौन प्रवृत्ति को कसना सीखो। सफेद सादे कपड़े पहनो, तख्त पर सोओ, उत्तेजक भोजन मत करो, मन की प्रवृत्तियों को कसो !........."

"मन की प्रवृत्तियों को कसो !" पूर्णता का यह आधार-विन्दु है। जब आदमी बाह्य परिस्थितियों को बदलते-बदलते थक जाता है और फिर भी दुनिया उतनी ही कुरूप बनी रहती है, तब अध्यात्म एक शान्त मुस्कराहट बिखेर कर कहता है— "बाहर की दुनिया को बदलो—मगर—पहले अपने मन को कसो !" अपने मन को कसो, लेकिन दुनिया से भागने के लिए नहीं, दुनिया से लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, अपने मन में पूर्णता का स्वप्न जाग्रत करने के लिए। अन्तर्जगत के सन्तुलन को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है। और अगर हम सचमुच दुनिया की समस्याओं का पूर्णतम, स्वस्थ और स्थायी समाधान ढूँढ़ना चाहते हैं तो वर्गहीन समाज-व्यवस्था के साथ-साथ हमें द्वैतहीन अध्यात्म की भी प्रतिष्ठा करनी ही होगी। लेकिन इतना ध्यान रहे, हमारा अध्यात्म कर्मोन्मुख हो और आत्मा को विश्वात्मा में विलीन करने का हम आधुनिक अर्थ ढूँढ़े और उसके आधार पर नवयुग का निर्माण करें।* नये युग के मन्दिर में मार्क्स के बगल

---

*यह तो स्पष्ट हो चुका है कि आज आदमी का अन्तर्जगत, आदमी की आत्मा इतनी विकृत हो चुकी है कि वह अपने को किसी भी ढाँचे में फिट नहीं कर पाता, किसी भी वातावरण में खून की प्यास

में राम-कृष्ण या ईसा की मूर्ति भी स्थापित करनी होगी, तभी मानव समाज के वाह्य और अन्तर दोनों पक्षों का पूर्णतः विकास हो सकेगा और एक स्थायी प्रगतिशील जीवन-दर्शन हमारे सामने आ सकेगा और हम आगे आनेवाली दुनिया का वह ढाँचा तैयार कर सकेंगे, जिसमें न शोषण होगा, न खूँरेजी, न नफरत और न गरीबी !

नहीं भुला पाता। वह पागल होकर सभ्यता को चूर-चूर कर डालने के लिए तैयार है और उसकी यह विकृति इस सीमा पर उतर आई है कि बिना उसकी आत्मा बदले आज नई मानवता का निर्माण नहीं हो सकता। जैसा इंगलैण्ड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी कवि स्पेंडर ने लिखा भी है कि "आज आदमी का अन्तर्जगत इतना शक्तिशाली हो गया है कि वह किसी भी वाह्य व्यवस्था को इशारे से बदल सकता है। वह चाहे तो अंगुलियों से दुनिया के अन्तिम दिन खींच लाये।" वह अपने पागलपन में सचमुच वही कर रहा है, और हमें इसे रोकने के लिए केवल वाह्य नहीं आन्तरिक सुधार करना ही होगा।

धर्म, ईश्वर, वैयक्तिक अध्यात्म-साधाना और सोवियट साहित्य
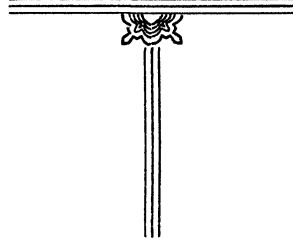
जिस कर्मवादी क्रान्तिकारी अध्यात्म की ओर हमने पिछले अध्याय में संकेत किया था, सोवियट विचारक उस महान् लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। उन्होंने आज एक नया विश्वास पाया है, नया लक्ष्य ढूँढ़ा है, नई रोशनी ढूँढ़ी है और वे उसके पवित्र सुनहले उजाले में मजबूती से कदम-ब-कदम चल रहे हैं। उनके कदमों में वह लड़खड़ाहट, वह डर, वह शंका, वह थकावट, वह बेचैनी, और वह लक्ष्यहीनता नहीं है जो अमेरिका या ब्रिटेन की सभ्यता में आ गई है। मैं तो यह कहूँगा कि उन्होंने एक नया धर्म ढूँढ़ा है।

धर्म की बात जरा ध्यान देने की बात है। सोवियट सभ्यता के विरुद्ध लगाये गए आरोपों में शायद सबसे बड़ा, सबसे गम्भीर और कम से कम भारतीय जनता की पुरानी पीढ़ी को रूस के बारे गुमराह करनेवाला सबसे बड़ा आरोप यह था कि रूस ने धर्म को बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया है। धर्म की बहिष्कृति से निश्चित रूप से यह ध्वनि निकलती है कि धर्म के साथ की सभी ऊँची चीजें—मानव-जीवन की उच्चता में विश्वास, आन्तरिक सौन्दर्य, नैतिक मर्यादा, पवित्रता इन सभी चीजों का बहिष्कार कर दिया गया होगा।

लेकिन यह बात गलत है। धर्म और मजहब में एक अन्तर होता है। धर्म उस जीवन-दर्शन को कहते हैं जो मानव के अन्तर्जगत और युग की बाह्य परिस्थितियों के संघर्ष में मानव के अन्तर्जगत को बल और प्रेरणा देता है। लड़ने के लिए, दुनिया को बदलने के लिए, नये युग की स्थापना करने के लिए धर्म ने हमेशा धार्मिक प्रतीकों से आदमी को बल दिया है। अपने वास्तविक स्वरूप में धर्म हमेशा प्रगतिशील रहा है।

लेकिन धर्म का एक दूसरा पहलू होता है, मजहब! जीवन के उच्चतम सौंदर्य, उदारता, प्रेम, और अध्यात्म के बजाय मजहब उन छोटी-छोटी रूढ़ियों और परम्पराओं के सहारे, अन्धविश्वासियों को गुमराह करने और लूटने की फिराक में रहता है। मजहब, जो धीरे-धीरे असली स्वरूप को पूर्णतया विकृत कर देता है, प्रगति विरोधी होता है, प्रतिक्रियावादी होता है, आदमी की सभ्यता के लिए जहर होता है।

हर पुराने सड़े हुए मजहब का विरोध, हर नये प्रगतिशील धर्म ने किया है। उपनिषदकारों ने ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध विद्रोह किया, बौद्धों ने हिंसात्मक धर्म के विरुद्ध विद्रोह किया, रामानन्द ने जाति-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह किया, दयानन्द ने कट्टर हिन्दू धर्म का विरोध किया, गांधी ने कट्टर मजहबीपन का विरोध किया और ये सभी धार्मिक व्यक्ति थे, अध्यात्मवादी थे।

स्वयम् प्रभु ईसा के जीवन में वह क्षण आया था जब उन्हें मजहबी यहूदियों से मोर्चा लेना पड़ा था। जेरूसलम के जिन मन्दिरों में धर्म के नाम लूट और व्यभिचार चल रहा था, ईसा ने खुले आम उन मन्दिरों के खिलाफ जिहाद बोला था, अपने शिष्यों के साथ उन पर हमला किया था। जेरूसलम के मन्दिरों के बारे में प्रभु जीसस का सर्वोत्कृष्ट जीवनी लेखक गियावैनी पैपिनी लिखता है—"यह मन्दिर, यह मठ, वह जगह थी, जहाँ लोग क्रीड़ा करते थे,

औरतों से मिलते थे, औरतों को बेचने का रोजगार करते थे। एक ईश्वर-विरोधी राजा ने, विप्लवी प्रजा को भुलवा देने के लिए, उनके एक उच्च पुरोहित वर्ग के घमण्ड और तृष्णा को बढ़ावा देने के लिए यह मठ कायम कर रक्खा था। इस मठ में दूकानदारी भी होती थी, द्वन्द्व-युद्ध भी होते थे। ईसा की आँखों में यह वह भयंकर माँद थी जहाँ सत्य के सभी विरोधी गिलगिले पशु रहते थे। जोसस इस मन्दिर को नष्ट करने के इरादे से गया...... जीसस ध्वंस करेगा। जीसस उन विचारों का ध्वंस तो कर ही चुका है जिन पर इन मन्दिरों की पथरीली दीवारें, सोने के दरवाजे और ऊँचे-ऊँचे शिखर खड़े हैं!............ईसा के लिए यह दृश्य नया नहीं था। वह जानता था कि ईश्वर का मन्दिर शैतान की माँद बन गया और आदमी अपने आध्यात्मिक विकास के बजाय मन्दिरों के आँगन में वासना की प्यास बुझाते हैं, और पुरोहित दलाली करते हैं। जीसस का मन नफरत और अरुचि से भर उठता है। मन्दिर को नष्ट करने के पहले बाजार को नष्ट करना होगा, दरिद्रनारायण प्रभु जीसस ने अपने गरीब अनुयायियों के साथ धनकुबेरों पर बिना हिचक और डर के, हमला करना शुरू किया। उसने एक रस्सी ली, उसे उमेठकर कोड़ा बनाया और उसे घुमाते हुए भीड़ में अपने लिए रास्ता बनाने लगा।............भागते हुए धनकुबेरों से जीसस ने गरजकर कहा—'मेरा मन्दिर प्रार्थना का मन्दिर था, तुमने उसे चोरों का अड्डा बना दिया है।' व्यापार, आज के व्यापार को ईसा चोरी समझता था!"

जो लोग, जो ईसाई, कट्टर हिन्दू या जो भी पुराने मजहबी लोग धर्म-विरोध के लिए रूस को गालियाँ देते हैं, उनसे मेरा सिर्फ यही कहना है कि रूस के धार्मिक मठों की हालत जेरूसलम के मन्दिरों से भी गई गुजरी थी और जब उस हालत में ईसा मजबूर हो गया था मन्दिरों का विरोध करने के लिए तो अगर लेनिन या स्टालिन ने

मजहब का विरोध किया, तो मैं तो उनको ईसा के कदमों पर चलने वाला ही मानूँगा।

रूस के ईसाई भगवान के भक्त नहीं थे, वे उस शैतान के भक्त थे, वह खूँखार, लोभी पाशविक शैतान जो रूस के सिंहासन पर बैठता था जिसका राज्य बन्दूकों और संगीनों के बल पर कायम था, जिसकी एड़ी के नीचे मानवता सिसक रही थी। ईसाई पुरोहित किसी भी कीमत पर जार की हुकूमत कायम रखने के लिए उत्सुक थे। क्रान्ति के अवसर पर ज्वालामुखी के फटते हुए मुँह को पादरियों ने अपनी हथेली से दबाये रखने का प्रयास किया था। फरवरी १६१७ में होली सिनॉड ने एक वक्तव्य रूस के ईसाइयों के नाम निकाला था—"जार के सिंहासन के चारों ओर एक अभेद्य दीवार बनकर खड़े रहो। शासक ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी सत्ता बचाने के लिए सब कुछ करो। कैथोलिक रूस एक महान् झण्डे के नीचे एकत्रित होगा और उस झण्डे पर आग के अक्षरों मे लिखा होगा—धर्म—जार और रूस के लिए।"

१३ वर्ष पहले रूस के धार्मिक पुरोहितों ने जनता की क्रान्ति रोकने में सफलता पाई थी। १६०४ में किसानों में इतनी अशान्ति थी कि विद्रोह होने की पूरी सम्भावना थी। लेकिन एक पुरोहित ग्रेगोरी गेपन ने किसानों को सलाह दी कि वे विद्रोह न करें, शान्ति से हाथ में क्रास लेकर जार के सामने अपना दुख-दर्द पेश करें। हजारों किसान धार्मिक भजन गाते हुए, हाथ में क्रास लेकर जार के महल के सामने पहुँचे। जार की सेना ने उनका स्वागत गोलियाँ बरसाकर और घोड़े दौड़ा कर किया। उनके क्रास जमीन में गिरकर खून में सन गये और गोलियों ने उनकी आवाज बन्द कर दी, जिनसे वे धार्मिक गीत गा रहे थे। लेकिन पादरियों ने उन बन्द हुए धार्मिक गीत और खून में सने हुए क्रासों का साथ देने के बजाय जार का साथ दिया। होली सिनॉड ने एक वक्तव्य दिया जिसमें उसने किसानों की निन्दा की।

क्रान्ति के बाद उन्होंने हर तरह से जनता की सरकार को उलटने की कोशिश की। उन्होंने श्वेत रूसी सैनिकों का साथ दिया। ग्रामीण जनता को उभाड़ने की कोशिश की, विदेशी जासूसों का काम किया। उनका सबसे घृणित पहलू १९२१ के अकाल में देखने को मिला। फसलें बर्बाद हो चुकी थीं, लाखों लोग भूखों मर रहे थे। रूस का भयंकर जाड़ा आ गया था। सोवियट सरकार ने गिर्जाघरों से अपनी सम्पत्ति राष्ट्रीय हित के लिए खर्च करने को कहा, लेकिन पादरियों ने सिवा टूटे-फूटे बर्तनों के और कुछ भी देने से इन्कार कर दिया। पैट्रियार्क टिखान ने एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उसने पादरियों को आदेश दिया कि वे सोवियट सरकार के इस अत्याचार का विरोध करें। अपने सोने-चाँदी पर मरनेवाले ये पादरी उस महान् प्रभु जीसस के अनुयायी थे जिसने रोम के एक सोने के सिक्के को देखकर कहा था, "यह सिक्का स्वर्ग में नहीं चलेगा। मैं तो आत्मा के उस खरे सिक्के पर विश्वास करता हूँ जिस पर देवदूतों की छाप होती है!"

आज उसी के अनुयायियों ने फिर जेरूसलम के वे मन्दिर और मठ कायम कर लिये थे जिनके खिलाफ आवाज उठनी जरूरी थी। रूसी जनता उस ईसा का इन्तजार कर रही थी जो इन 'चोरों के अड्डों' को बर्बाद करके, नये महान् आदर्श की प्रतिष्ठा कर सके। और 'सम्भवामि युगे युगे' के अनुसार ईसा इस बार लाखों करोड़ों की सशक्त जनता के रूप में उठा और वह जनता इस आडम्बरयुक्त धर्म का विरोध करने पर तुल गई। इस जनता के पीछे ईसा की विद्रोही आत्मा थी—ब्लाक ने लिखा था—"इनकी प्रगति के पीछे ईसा का हाथ है!"

वास्तविकता यह थी कि रूस में धर्म-विरोधी आन्दोलन की भाषा चाहे जितनी भ्रमात्मक हो लेकिन वे लोग उन प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध थे जो कि मजहब के साथ आ जाती हैं और मानवता की प्रगति में एक बहुत बड़ी बाधा बन जाती हैं। लेकिन

इसके ये अर्थ नहीं हैं कि साम्यवादियों ने जीवन के उन महान् सत्यों और सौन्दर्यों की उपेक्षा की हो जिनके लिए दुनिया के महान् धर्मप्रवर्तकों ने अपनी जान दी है। उन्होंने रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध किया, रूसी जनता को मजहब ने जंजीरों में जकड़ रक्खा था। मजहब ने जनता से कहा था कि जार का विरोध धर्म का विरोध है; क्रान्ति का मतलब रक्तपात है, पशुता है; आदमी को अपनी परिस्थितियों से सन्तोष करना चाहिए, जो इस जीवन में दुःख उठाते हैं, उन्हें परलोक में शान्ति मिलती है। जिस ईसा ने जीवन भर अन्याय के खिलाफ युद्ध किया, उसके अनुयायी पादरियों ने अन्याय की मूर्ति जार का साथ दिया; जिस ईसा ने धन और वैभव से भरे हुए मठों को बर्बाद कर देने के लिए सलीब पर चढ़कर जान दे देना स्वीकार किया था, उन्हीं पादरियों ने अपने मठों का सोना बचाने के लिए अकालग्रस्त रूस के लाखों आदमियों को तड़प-तड़प कर दम तोड़ने दिया। ईसा का जीवन-दर्शन एक विद्रोही जीवन दर्शन था जिसमें सामन्तावादी व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की आवाज थी। ईसा का दुःखवाद एक महान् सिद्धान्त था जिसके अर्थ थे—जनता के दुखों के खिलाफ लड़ने के लिए सारे दुख और गुनाह अपने कन्धों पर ले लेना! लेकिन धर्म के इन ठीकेदारों का जीवन-दर्शन नाबदान के कीड़ों का जीवन-दर्शन था जो अपनी परिस्थिति से विद्रोह नहीं करना चाहते क्योंकि उनके चारों ओर सोने-चाँदी का जगमगाता हुआ कीचड़ था। और वक्त पड़ने पर इन कीड़ों ने अपने गन्दे साहस से क्रान्ति के बढ़ते हुए विराट कदमों को रोकने का प्रयास किया था, और अपने इस प्रयास में—जिसके लिए महान् प्रभु जीसस की आत्मा इन्हें कभी भी क्षमा न करेगी—उस प्रयास में ये खुद क्रान्ति के बढ़ते हुए कदमों के नीचे कुचल गये।

फिर भी रूस की नई सरकार ने इन्हें बहुत बचाने की कोशिश

की। जनवरी २३, १६१२ को जिस नए कानून के अनुसार धर्म को राजकीय कार्यों से अलग कर दिया गया, उसके स्पष्ट शब्द हैं—

"हरेक नागरिक को पूरा अधिकार है कि वह किसी धर्म को माने, या किसी धर्म को न माने·········धार्मिक परम्पराओं की रक्षा कम्यूनिस्ट सरकार करेगी, बशर्ते ये धार्मिक परम्पराएँ जन-शान्ति के लिए बन्धक न हों और किसी भी नागरिक के अधिकारा में बाधा न पहुँचायें।"

लेकिन इन मुल्ला और पादरियों का सबसे बड़ा विरोध जनता की ओर से उठा। रूस की "कासमासोल" (युवक-संघ) का एक दल था जो धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध रूसी जनता में प्रचार कर रहा था। अमेरिकन और इंगलिश पूँजीवादियों ने यह सिद्ध करना चाहा है कि रूसियों ने इन पादरियों के साथ बहुत बर्बर व्यवहार किया है, अमानुषिकता पर उतर आये। लेकिन यहाँ पर सिर्फ इतना याद रखना होगा कि कम्यूनिस्ट नास्तिकों ने कहीं भी किसी भी पादरी को जिन्दा नहीं जलाया, जब कि धार्मिक (?) अमेरिकनों का यह प्रतिदिन का मनोरंजन था कि वे किसी अभागे नीग्रों को पकड़कर जिन्दा जला दें और चारों ओर खड़े होकर तालियाँ पीटें। इंगलैण्ड के आस्तिकों का धर्म क्या है, यह तो हम हिन्दोस्तानी दो शताब्दियों तक अच्छी तरह भोग चुके हैं। पक्के ईसाई जेनरल डायर ने जल्याँवाली तख्ती पर खून की बाइबिल लिखी थी जिसको पढ़कर आदमीयत शर्म से सर झुका लेती है। हिन्दोस्तान का जो वर्ग रूस की नास्तिकता पर आक्षेप करता है उससे भी मुझे यही कहना है कि कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो में कहीं भी यह नहीं है कि यदि स्त्री या शूद्र कम्यूनिस्ट मेनीफ़ेस्टो पढ़ें तो उनके कान में पिघला हुआ सीसा छोड़ दिया जाय। और न धर्म के मसले को लेकर रूसियों ने इतनी शर्मनाक खूँरेजी की है जितनी कि धर्म के नाम पर नोआखाली और पंजाब

में हुई। रूस ने मजहब का परिहार कर अपनी जनता के जीवन में ऊँचाई लाने का प्रयास किया है। और मजहब का साइनबोर्ड हटाकर, मजहब की रूढ़ियों का विरोध कर, उन्होंने जीवन की ऊँची नैतिकता की स्थापना की जो धर्म की ही तरह पवित्र है और महान् है। जिन निष्पक्ष लोगों ने वर्तमान की रूस की समस्याओं का अध्ययन किया है, वे सभी यह मानते हैं धर्म का विरोध केवल मठों और महन्तों की प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति का विरोध था। उसके पीछे यह सोच लेना कि सोवियट रूस आदमी को पशुता की ओर ले जा रहा है, यह गलत है। "अगर धर्म का अर्थ वह सड़ा हुआ रूढ़िवाद है तो वह रूढ़िवाद धीरे-धीरे सोवियट रूस में अपना दम तोड़ रहा है। उसकी जगह पर जनता के हृदय में सांस्कृतिक और भौतिक निर्माण की एक गतिशील, उल्लासमय प्रेरणा जाग गई है।

"लेकिन अगर धर्म का अर्थ और भी गहरा है, उसका अर्थ अधिक व्यापक, उदार और उज्ज्वल है तो प्रश्न का दूसरा पहलू सामने आता है। लोगों का कहना है कि इस्लाम, बौद्ध धर्म, हिन्दुत्व या ईसाइयत के अर्थ मनुष्य की सेवा और सत्य की पूजा है। सोवियट संस्कृति में आज पहले से कहीं ज्यादा मनुष्य की सेवा और सत्य की पूजा-भावना है। अगर धर्म के अर्थ हैं जिन्दगी का एक महान् स्तर से निर्माण, तो आज दुनिया के किसी भी देश के मुकाबले में रूस ज्यादा धार्मिक है। वेब ने कहा है कि 'रूस ने आज मानव शरीर के बजाय मानव आत्मा को अधिक स्वतन्त्रता, अधिक विकास और अधिक ऊँचाई देने का प्रयास किया है।' हमें उनके नास्तिक जीवन-दर्शन की ओर ध्यान न देकर उस वास्तविक निर्माण की ओर ध्यान देना चाहिए जिसमें उन्होंने रूस की धरती के कण-कण में ईश्वरत्व जगाने का प्रयास किया।" (विल्फ्रड स्मिथ)

स्वयम् इंगलैण्ड के एक महान बिशप, डीन आफ कैन्टरबरी ने लिखा है—"मैं चाहता हूँ कि मेरे अनुयायी जिस लक्ष्य के लिए

साधना करें, वह लक्ष्य आज केवल नास्तिक रूस में ही पूरा हो रहा है।"

सोवियट संस्कृति में धर्म का स्थान लेने के बाद अब प्रश्न आता है सोवियट साहित्य में धर्म का स्थान! इसके पहले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि संसार के प्रत्येक महान् धर्म के साथ एक रूढ़िवादी परम्परा होती है जो कालान्तर में उसे प्रतिक्रियावादी बना देती है, लेकिन हर धर्म के अन्तराल में एक महान् सांकेतिक जीवन-दर्शन होता है जो मानवता के कदमों को आगे बढ़ाने में हमेशा सहायक हो सकता है। लेकिन धीरे-धीरे उस धर्म के अनुयायी धर्म की उन परम्पराओं को अपना लेते हैं और धर्म के उस सांकेतिक, उस प्रतीकवादी सन्देश को भूल जाते हैं। मसलन ईसाई आज यह भूल चुके हैं कि ईसा के सन्देश और यहूदियों द्वारा ईसा के वध का एक प्रतीकवादी अर्थ था, वह यह कि प्रत्येक विद्रोही को नये जीवन के निर्माण के लिए अपने अस्तित्व तक का होम कर देना पड़ता है। लेकिन आज वह संकेत भुला दिया गया है। उसी तरह भारत के वैष्णव अवतारवाद का सबसे महान संकेत यह है कि ईश्वर भी अपने को तभी पूर्ण पाता है जब वह जीवन की कठोर धरती पर उतर आये। ईश्वर—चरम सौन्दर्य, असीम प्रेम, इन सभी की पूर्णता का परिपाक वास्तविक जीवन में है, परलोक की कल्पनाओं में नहीं। यह एक क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन था लेकिन कालान्तर में हम उसके प्रतीक अर्थ को भूल गये।

लेकिन भारत के प्रगतिवादियों ने धर्म के इन सांकेतिक अर्थों को बिना समझे हुए ही धर्म का विरोध किया है। वे भूल गए कि ये धर्म अपने युग के क्रान्तिकारी आन्दोलन थे। वे भूल गए कि भारतीय जनता की अब तक की सांस्कृतिक प्रगति बुद्ध और कृष्ण पर आधारित थी। वे भूल गए कि रूस के ईसाई महन्तों और भारत के धार्मिक सन्तों में अन्तर था। कबीर और तुलसी, राम-कृष्ण और दयानन्द,

शंकर और रामानुज, बुद्ध और नागार्जुन सांस्कृतिक प्रगति के अग्रदूत रहे हैं। भारतीय प्रगतिवादियों ने बिना धार्मिक संस्कृति का पूरा अर्थ समझे, उसके खिलाफ फैसला दे दिया और इस तरह अपने को भारतीय संस्कृति से सर्वथा अलग कर लिया, भारत की सांस्कृतिक प्रगतिशील परम्परा से अलग होकर अपने को केवल नासमझ प्रतिक्रिया-वादी ही साबित किया। वे भूल गये थे कि रूस के धर्म और भारत के धर्म में अन्तर है।

रूस के साहित्यिकों ने, रूस के विचारकों ने यदि उस धर्म का विरोध किया तो ठीक था। वहाँ धर्म प्रगति में बाधक हो रहा था। लेकिन भारत में अगर एक तरफ मुस्लिम लीग और हिन्दू सभा थी, तो दूसरी ओर हम यह भी नहीं भूल सकते भारत के वर्तमान पुनर्जागरण के मूल में धार्मिक पुनर्जागरण था। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द, रामतीर्थ और विवेकानन्द धार्मिक आचार्य थे। लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने भारतीय धर्म के क्रान्तिकारी संकेतों को आगे रक्खा था और हम उन हजारों बहादुर नौजवानों को नहीं भूल सकते, जो हाथ में गीता लेकर हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये थे।

मैं यह नहीं कहता कि आज भी भारत के लिए अपेक्षित प्रगतिवादी साहित्य को धर्म की रूढ़ियाँ और परम्पराएँ अपनानी होंगी। मेरा सिर्फ इतना आग्रह है कि प्रगतिवाद को उस महान् धर्म की प्रगतिवादी परम्परा का अर्थ समझना होगा जिसने आज तक भारत की जनता को सबल और दृढ़ बनाया है। यह ठीक है कि धर्म के एक पहलू ने, भाग्यवाद और जातिभेद ने, परलोकवाद और वैराग्यवाद ने हमारी जनता को जीवन से विमुख किया, लेकिन हम यह भी नहीं भूल सकते कि रामानन्द ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया था, सूर की गोपियों ने वैराग्यवाद की धज्जियाँ उड़ाई थीं, भगवान तथागत ने उच्चवर्गीय ब्राह्मण तानाशाही के खिलाफ विद्रोह किया था; और भारत में जनप्रिय

बननेवाले दोनों धर्म, बौद्ध और वैष्णवत्व, दोनों ही प्रगतिवादी थे और दोनों ने जनचेतना को जगाने में सब से आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। वैष्णव धर्म की जनप्रियता का तो मुख्य आधार ही यह था कि वैष्णव आचार्यों ने किसी रहस्यमय लोक से ईश्वर को हटाकर जन-जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि में, ग्राम, गोचर भूमि, ग्राम कुटीर, और ग्रामीण हृदय में ईश्वरत्व की स्थापना की थी और एक समय था जब कि वैष्णव सन्तों की दृष्टि में जनचेतना और ईश्वरचेतना आपस में घुल-मिल गई थी।

हम देख चुके हैं कि आज का सच्चा प्रगतिवादी साहित्य प्राचीन संस्कृति का ही एक कड़ी बनकर जिन्दा रह सकता है। महान् सांस्कृतिक परम्परा से अपने को तोड़कर अलग कर लेने के बाद प्रगतिवादी साहित्यकार निर्बल और लक्ष्यभ्रष्ट बन जाता है। भारत का प्रगतिवादी साहित्यकार भी तभी अपनी कलम की नोक पर सत्य की साधना कर सकता है, जब वह भारतीय जनता की आत्मा में छिपे हुए उदार और सशक्त तत्वों का सच्चा मूल्यांकन कर सके और भारतीय जनता में व्याप्त धार्मिकता का उज्ज्वल और अँधेरा दोनों पक्ष देख सके। दोनों दृष्टिकोणों से धर्म को देखना आवश्यक है। जिन रूढ़ियों ने भारतीय जनता में एक व्यापक निष्क्रियता ला दी है उन तत्वों का संहार करना जरूरी है लेकिन जिन धार्मिक तत्वों ने भारतीय जनता को अभी तक सशक्त, स्वाभिमानी और महान् बना रक्खा है, उनकी आधुनिक दृष्टिकोण से व्याख्या करना आवश्यक है। हम यह नहीं भूल सकते कि मूल आर्थिक समस्याएँ चाहे कुछ रही हों लेकिन भारतीय जनता का मानसिक ढाँचा जिस रूप में ढल गया है, उसमें धर्म का प्रमुख स्थान है और उनके धर्म का वास्तविक और यथार्थ विश्लेषण किये बिना हम भारतीय जनता को नहीं समझ सकते। भारतीय चेतना के निर्माण में धर्म ने हमेशा जो भाग लिया है, जिन प्रतीकों के सहारे सांस्कृतिक विकास लाने की कोशिश की है, और जिन रूढ़ियों

ने भारतीय जनता की प्रगति को जकड़ लिया है, उन सभी को सहानुभूति से और गम्भीरता से समझने की आवश्यकता है। केवल ऊपर से, भारतीय संस्कृति की सांकेतिक गहराइयों में उतरे बिना, उसका विरोध करना रूस का नासमझ अनुकरण है।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि स्वयं रूस के महान् लेखकों ने रूढ़िवादी धर्म और प्रगतिवादी धर्म का अन्तर समझा है। मैं टालस्टाय और डास्टावस्की की बात नहीं करता मैं, मैक्सिम गोर्की की बात कर रहा हूँ और वह भी मैक्सिम गोर्की के उस उपन्यास (माँ) की जो रूस में बाइबिल की तरह माना जाता है। एक जगह जब उसका क्रान्तिकारी नायक पवेल रूढ़िवादी ईश्वर का विरोध करता है तो रूस की पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करनेवाली माँ बोली—"परन्तु मुझ बुढ़िया से अगर तुम मेरा ईश्वर भी छीन लोगे तो फिर मेरे पास मुसीबत के लिए क्या सहारा रह जायगा?" उस पर पवेल ने उत्तर दिया—"माँ, मैं उस अच्छे और कृपालु ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कह रहा था, जिस पर तुम विश्वास करती हो। मैं तो उस ईश्वर के बारे में कह रहा था, धार्मिक लोग जिसके नाम पर हमारे दिलों में भूत का हौआ पैदा करते हैं, जिसके नाम का दुरुपयोग करके हम सब को थोड़े से आदमियों की कुत्सित इच्छाओं का दास बनाने का प्रयत्न किया जाता है।"

इस पर गोर्की के दूसरे पात्र राइबिन, जो उदारमना किसानों का प्रतिनिधि है, बोला—"हाँ, हाँ बिल्कुल ठीक कहा! उन्होंने हमारे ईश्वर को भी विकृत बना दिया है। जो कुछ उनके हाथ में आता है। उनका ही वे विरुद्ध उपयोग करते हैं। तुम जानती हो माँ कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने स्वरूप में बनाया है—ऐसा बाइबिल में में लिखा है। मनुष्य ईश्वर का स्वरूप है तो उसे ईश्वर की ही तरह आचरण भी करना चाहिये। परन्तु हम लोग ईश्वर तो नहीं लगते, जानवर बन गये हैं। गिरजों में भी हम लोगों को डराने के लिए ही स्वांग रचा जाता है। शायद हम लोगों को अपना ईश्वर भी बदलना

पड़े माँ, हमको अपना ईश्वर भी स्वच्छ करना होगा। उन्होंने ईश्वर को असत्य और पाखण्ड के आचरण में छिपा रक्खा है। उन्होंने हमारी आत्माएँ नष्ट करने के लिए ईश्वर के मुँह पर भी कालिख पोत दी है।"

इस प्रकार हम देखते हैं गोर्की ने भी रूढ़िवादी ईश्वर और वास्तविक ईश्वर में स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी है। वह जानता था कि तर्कहीन रूढ़ियाँ और अन्धी परम्पराएँ आदमी की जिन्दगी को आगे नहीं बढ़ा सकती। कानून से, नियमों से, आदमी और आदमी की साधना बड़ी होती है। उसने ईश्वर का विरोध किया लेकिन घूम-फिरकर वह भी उसी सिद्धान्त पर पहुँचा था जहाँ भारतीय संस्कृति न जाने कब से संकेत करती आ रही है—वह चिरन्तन लक्ष्य जिस पर सभी भारतीय सन्तों ने जोर दिया है—अर्थात् मनुष्य की पूर्णता। उपन्यास का प्रमुख पात्र एण्ड्री कहता है—"याद है अलेक्सी आइवानोविश मनुष्य के पूर्ण जीवन की आवश्यकता के सम्बन्ध में क्या कहता था। आत्मा और शरीर की सारी शक्तियों का उपयोग कर जीवन को पूर्ण बनाने की मनुष्य को जरूरत है।... परन्तु पूर्ण जीवन हमारे लिए नहीं है। अगर भविष्य से प्रेम है तो वर्तमान को स्वाहा कर देना पड़ेगा, साथी!"

लेकिन गोर्की मानता था कि हम वर्तमान को इसीलिए स्वाहा कर रहे हैं कि भविष्य में पूर्णता की प्रतीक्षा कर सकें। इसलिए हमें आज त्याग, बलिदान, संयम और शायद रक्तपात का भी रास्ता अपनाना पड़ेगा, लेकिन सिर्फ़ इसलिए हम जीवन की विषमताओं को मिटा कर पूर्णता की ओर बढ़ें और इसके लिए एक नई श्रद्धा उत्पन्न करने की जरूरत है—"पवित्र स्थान को खाली नहीं रहना चाहिये। ईश्वर दर्द की जगह में रहता है। ईश्वर दिल से निकल गया तो दिल में एक बड़ा घाव हो जायगा। दिल में निरा दर्द ही दर्द रह जायगा, याद रक्खो! इसलिए एक नई श्रद्धा पैदा करने की जरूरत है

पवेल—बुद्धि से शक्ति नहीं आती हृदय से शक्ति आती, है! सर्व-साधारण के लिए एक नई श्रद्धा, एक नया ईश्वर पैदा करने की जरूरत है। न्यायाधीश या सर्वशक्तिमान परमात्मा के स्थान पर एक प्रजा के मित्र स्वरूप परमात्मा की जरूरत है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गोर्की ने धर्म के विषय में इतनी चीजें स्वीकार कर ली थीं—वह इसे स्वीकार करता था कि रूढ़िवाद से अलग ईश्वर का एक स्वच्छ और निर्मल स्वरूप रहा है, जिसने हमेशा आदमी की आत्मा को बल दिया है। वह विश्वास करता है, वह ईश्वर विश्वास स्वरूप है, श्रद्धा-स्वरूप है और दर्द के दौरान में वह आदमी की आत्मा को बिखरने नहीं देता, उसे मजबूत बनाये रखता है। वह ईश्वर प्रजा का मित्र-स्वरूप है, मानव से प्यार करता है। वह ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं, पूर्णता का प्रतीक है।

गोर्की ने जिन बातों का विरोध किया था, वह थी—मठों और महन्तों की रूढ़िवादिता। "ईसा के शिष्यों ने मठों की स्थापना की लेकिन मठ ही कानून बन गए। मनुष्य को अपने आप में विश्वास होना चाहिये, कानूनों पर नहीं। मनुष्य की आत्मा में ईश्वर का अस्तित्व होता है। कानून मनुष्य से नीचा होता है।" इस विषय में मैं और कुछ न कहकर केवल इतना कह देना चाहता हूँ कि वैष्णव धर्म ने परम्पराओं और रूढ़ियों से ऊपर मानव को स्थान दिया है।

दूसरी बात गोर्की ने यह स्वीकार की कि मानवता की प्रगति में श्रद्धा और हृदय से बल आता है लेकिन वह अन्धश्रद्धा में विश्वास नहीं करता था, वह बुद्धि को समुचित स्थान देना चाहता था, उसका नायक पवेल बार-बार इस बात पर जोर देता है कि ईश्वर का वास केवल दिल में नहीं दिमाग में भी है। (यहाँ हमें याद रखना चाहिए कि भारतीय भक्तिमार्ग में विवेक का समुचित स्थान था। तुलसी ने अपने 'हरिभक्ति पथ' को 'संजुत विरति विवेक' बताया था) लेकिन गोर्की

दिल और दिमाग की एकता चाहता था। उसका मात्र कहना है—"हमने अपने दिल और दिमाग के टुकड़े कर डाले हैं, और यहीं से सारे झगड़े की जड़ खड़ी होती है। यहीं से सारे कष्ट और मुसीबतें पैदा होती हैं। हमने अपने टुकड़े कर डाले हैं। हृदय को बुद्धि से अलग कर दिया है जिससे बुद्धि भी भ्रष्ट हो गई है।" जब मैं यह पंक्तियाँ पढ़ रहा था तो मुझे बरबस आधुनिक भारत के सन्त कवि प्रसाद की याद आ गई जिन्होंने बुद्धि को हृदय से समन्वित करने का महान सन्देश 'कामायनी' में दिया है। मुझे तो बेहद आश्चर्य होता है कि जो भारतीय प्रगतिवादी बिना किसी तमीज के भारतीय धर्म-परम्परा का विरोध करते हैं, उन्होंने भारतीय धर्म का तो अध्ययन नहीं ही किया, मुझे तो लगता है उन्होंने रूसी साहित्य भी पढ़ने की कोशिश नहीं की, या पढ़ा भी है तो शायद समझे नहीं!

गोर्की का अन्तिम विरोध ईसाइयत के उस ईश्वर से था जो मनुष्य का न्यायाधीश है। मनुष्य को प्यार नहीं करता, क्षमा नहीं करता। मुझे विश्वास है कि गोर्की को अपने इस विरोध का शमन भारतीय वैष्णवता में मिलता जहाँ कि ईश्वर न्याय नहीं करता है, भक्तों से प्रेम करता है। मानव से प्रेम करता है और इतना प्रेम करता है कि गोलोक का वैभव छोड़कर मर्त्य लोक में अवतार लेता है। गोर्की के सामने ईश्वर का यह भारतीय स्वरूप नहीं आया था लेकिन सोवियट विचारकों के सामने यह स्वरूप आया तो उन्होंने उदारता से उसे समझा।

रवीन्द्रनाथ टैगोर जब रूस गये थे, तो मास्को में हजारों सोवियट नागरिक उनके भक्ति भावना भरे गीत सुनने आते थे। उनकी मृत्यु पर रूस के प्रसिद्ध लेखक पी० एस० कोगन ने लिखा था—"ऐसा समझना भूल होगी कि शाश्वत जगत की खोज में लगा हुआ विचार-प्रवर्तक और तात्कालिक समस्याओं की हल में लगा हुआ क्रान्तिकारी परस्पर के शत्रु हो सकते हैं।......वे जहाँ अपने ईश्वर की

आराधना करते हैं, वहीं हम भी अपना ईश्वर खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'अहंकार वहाँ नहीं पहुँच सकता जहाँ प्रभु निर्धन, नीच और पतितों के बीच में उन्हीं का भेष धारण किये घूमते हैं।' गीतांजलि के उनके ये वाक्य कितनी बार मैंने पढ़े होंगे—'मन्त्र जपना और माला घुमाना छोड़ दे। मन्दिर के दर्वाजे बन्द कर इस अँधेरे कोने में तू किसकी पूजा कर रहा है। आँख खोलकर देख बावले तेरा ईश्वर यहाँ नहीं है! वह वहाँ है जहाँ किसान, पसीने में तर, हल जोत रहा है।''

इससे स्पष्ट है कि वे नास्तिक नहीं, वे केवल रूढ़ परम्परागत ईश्वर का विरोध करते हैं। उन्होंने चाहे गिर्जों और मन्दिरों से ईश्वर को हटा दिया हो लेकिन उनके मन में प्रभु का प्यार है और वह प्रभु है—'मानव-ईश्वर'। यही उनके साहित्य का नया मानववाद है।

अभी तक मार्क्सवाद ने पुरुष को परिस्थितियों से सदा पराजित ही दिखलाया था। प्लेखनाव ने यह साबित किया था कि मानव का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं, अपनी कोई आवाज नहीं, अपना कोई निर्माण नहीं। परिस्थितियाँ, उत्पादन के साधन, समाज का ढाँचा उसको जैसा बना देता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। समाज में यदि परिवर्तन भी होता है तो वह इसलिए कि भौतिक परिस्थितियों में एक अन्तर्विरोध रहता है, वह उन्हें बदल देता है और उसी अन्तर्विरोध की छाया मानव की अन्तर्चेतना में पड़ती है, उसकी कोई स्वतन्त्र क्रान्तिकारी चेतना भी नहीं है। जहाँ रूढ़िवादी धर्म ने भाग्यात्मक निश्चयवाद अपना कर मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता मानने से इन्कार कर दिया था, वहाँ रूढ़िवादी मार्क्स-पन्थियों ने परिस्थिति-मूलक निश्चयवाद अपनाकर मनुष्य की स्वतन्त्र सत्ता नष्ट कर दी थी। एक ने माना था कि ईश्वर मनुष्य का भाग्य बनाता है, दूसरे ने माना कि परिस्थितियाँ मनुष्य का भाग्य बनाती हैं। लेकिन सोवियट रूस ने इन दोनों जीवन-दर्शनों के खिलाफ विद्रोह किया। उन्होंने

मार्क्सवाद की एक नई व्याख्या की जिसमें मानव परिस्थितियों का दास नहीं स्वामी बन गया। भाग्य का खिलौना नहीं भाग्य का निर्माता बन गया।

इस समय सभी सोवियट विचारक यह समझते हैं कि मानव नई दुनिया का निर्माता होगा। दुनिया को बदलने और दुनिया को नया रूप देने के लिए आज आर्थिक परिस्थितियाँ नहीं बल्कि आदमी को आगे आना होगा। मनुष्य का यह निर्माता-रूप आज सोवियट साहित्य के मन्दिर की देवमूर्ति बन गया है। आलोचक पर्टजव कहता है—"इस नये डेमी अर्ज (सृष्टि की प्रेरणा-मूर्ति), इतिहास के चैतन्यशील भाग्यविधाता के व्यक्तित्व में हमारा साहित्य अपना रस और महानता ढूँढ़ रहा है।" (ज्नाम्या अंक ६, १६४५) आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि मानव ही अपना ईश्वर है। वही अपनी सभ्यता और अपनी दुनिया को बना या मिटा सकता है। स्टीफेन स्पेण्डर लिखता है— "दुनिया के लोग आज एक उम्मीद के सहारे जी रहे हैं, वह यह कि उन्हें एक नये साँचे में ढलना है। सभ्यता, दुनिया के कोने-कोने में फैली हुई सभ्यता आज एक विचार-बिन्दु में सिमटकर रह गई है—वह है मानव की शक्ति जो सब कुछ ध्वंस कर सकती है और जो नूतन सिरे से निर्माण कर सकती है।...यह तो स्पष्ट है कि मानव का अन्तर्जगत अब इतना बलवान हो गया है कि वह वाह्य परिस्थितियों को जब चाहे, जैसा चाहे बदल सकता है।···इसीलिए साहित्य में धीरे-धीरे इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि आदमी क्या बने······अब हम उस युग में पहुँच गये हैं जहाँ आदमी अजेय है, वह अपने को जीत सकता है, वह परिस्थितियों को जीत सकता है। यह सम्भव कि आदमी आज दुनिया के इस महान् नाटक के पर्दे पर 'समाप्त' लिख दे!"

मानव आज अपने अन्तर्जगत और अपने बाह्य जगत का

ईश्वर मान लिया गया है। यह वही जीवन-दर्शन है जो जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में दिया था। कामायनी में मनु एक ध्वस्त देवसृष्टि के खण्डहरों पर अपनी प्रेरणा कामयनी के सहारे एक नई सृष्टि का विधान करते हैं, अपने अन्तर्जगत से हारकर, अपने वाह्य जगत से मजबूर होकर सारस्वत प्रदेश की भौतिक सभ्यता में उलझकर पतित होते हैं, मगर दुःख और सुख, आशा और निराशा, ध्वंस और निर्माण के कोहरे में गर्व से सर उठाये हुए मनु उन बादलों से भी महान् ऊँचाई की ओर बढ़ रहे हैं जहाँ मानव हिमगिरि के उच्चतम शिखर पर आसीन होता है, जहाँ मानव से ऊँचा कोई भी नहीं है। उसी मानववाद को आज सोवियट रूस स्वीकार कर रहा है। आज सोवियट लेखक अपने को साम्यवादी, मार्क्सवादी या प्रोलेटेरियट नहीं कहता, वह अपने को मानववादी कहता है—रूस की कवियित्री वेरा इन्बर अपनी 'पुल्कोव मेरीडियन' नामक कविता में, जिसे लिखने में उसे दो साल लगे, लिखती है—

"हाँ, हम मानववादी हैं,
ऊँचे विचारों का प्रकाश हमारी आत्मा को लुभा लेता है।
महान् कार्यों का यश एक ज्योतिर्मय सन्देश है
जो चलता जाता है,
पीढ़ी से पीढ़ी को, युग से युग को
बिना किसी अन्त के............"

वह 'महान् कार्य' है नई सृष्टि का निर्माण, पुरानी सृष्टि का ध्वंस और इस प्रकार निर्माण और ध्वंस की धूपछाँह में आदमी पूर्णता की ओर (गोर्की के अनुसार) बढ़ता चलता है। इस यात्रा में जैसा हम पहले बता चुके हैं, वह अपनी बुद्धि और हृदय का समन्वय करता है और आगे बढ़ता है। यही वह जीवन-दर्शन है जो प्रसाद ने मनु के प्रतीक में हमारे सामने रक्खा था; आज से १३ वर्ष पहले जब रूसी साहित्य अपने अनिश्चित प्रयोगों में

उलझा था।

न केवल रूस ने आज अपने साहित्य का ईश्वर कामायनी के मनु को स्वीकार कर लिया है, वरन् उसने भावी सृष्टि का रूप भी वही "समरस सृष्टि' मानी है जो प्रसाद को अभीष्ट थी। जो लोग कि सोवियट साहित्य की इस आधार पर निन्दा करते हैं कि उसकी नीवें नफरत, द्वैत और संघर्ष पर आधारित हैं, उन्होंने सोवियट साहित्य को एंग्लो अमेरिकन आँखों से पढ़ा है। मानव चाहे वह रूस का हो या भारत का, वह प्रेम की ही ओर बढ़ेगा। मनुष्य स्वभाव से आस्तिक होता है, श्रद्धावान होता है, और उसका ईश्वर 'प्रेम' होता है। प्रेम ही ईश्वर है। उसी प्रेम की ओर गोर्की ने भी संकेत किया था। प्रसाद ने जिस उल्लास में भरकर कहा था—

"संगीत मनोहर बनता, मुरली बजती जीवन की,
संकेत कामना बन कर, बतलाती दिशा मिलन की।
समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर आकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।"

गोर्की ने उसी उल्लास में भरकर लिखा था—"कभी-कभी हृदय में विचित्र भाव उठता है। ऐसा लगता है जिधर देखो सब बन्धु ही बन्धु हैं। सभी के अन्दर एक सी रोशनी जगमगा रही है। सभी सुखी और भले हैं...सब एक दूसरे से मिलकर रहते हैं और सब अपने-अपने हृदय के राग जी भरकर अलापते हैं, और उनके विभिन्न राग एक महानद की सहस्र धाराओं की तरह आकर एक आनन्द की महान् गंगा में मिल जाते हैं जो झूमती हुई और मँड़राती हुई आगे की तरफ जाता है। फिर जब यह विचार आता है कि भविष्य में सचमुच ही ऐसा होनेवाला है—हम लोगों ने चाहा तो जरूर ऐसा ही होगा—तब आश्चर्य और आनन्द से हृदय पिघलने लगता है, और खूब दिल भर कर रोने को जी चाहता है। आनन्द से ऐसा हृदय नाचने लगता

है।" दूसरे स्थान पर गोर्की कहता है—"मैं जानता हूँ एक दिन आवेगा जब सब लोग एक दूसरे से हिलमिल कर रहेंगे—जैसे आकाश में तारे रहते हैं। जब एक को दूसरे की बातें संगीत की तरह मधुर लगेंगी। तब हमारा जीवन सत्य, स्वतन्त्रता और सौन्दर्य से शराबोर होगा। वही लोग इस दुनिया में अच्छे समझे जावेंगे जो अपने हृदय को विस्तृत करके दुनिया भर को प्रेम कर सकेंगे!" तीसरे स्थल पर गोर्की स्पष्ट कहता है—"हृदय से हृदय मिलकर एक विशाल और शक्तिशाली हृदय बनाते हैं जिसमें से एक चाँदी की घण्टी की सी टनटनाती हुई आवाज आती है—दुनिया भर के मनुष्य एक हैं! जीवन की नींव प्रेम पर है घृणा पर नहीं! दुनिया के लोगों, मिलकर अपना एक कुटुम्ब बनाओ!"

ध्यान दीजिये। दुनिया के मजदूर सिर्फ़ एक नहीं हैं। दुनिया के मनुष्य एक हैं। जीवन की नींव वर्ग-संघर्ष पर नहीं, प्रेम पर है! स्पष्ट है कि गोर्की संकीर्ण मार्क्सवाद से महान् मानववाद पर उठ गया था। और उसी मानववाद की ओर आज रूस का साहित्य बढ़ रहा है।

लेकिन यह मानववाद केवल अन्तर्जगत में सीमित नहीं, वह मानव के अन्तर्जगत को वाह्य जगत की ओर प्रेरित करता है। वह चाहता है कि आदमी न केवल प्यार करे, वरन् ऐसी दुनिया का निर्माण करे जिसमें वह प्यार कर सके, जिसकी सीमाएँ इतनी चौड़ी हों, जिसका आकाश इतना उन्मुक्त हो कि प्यार उसमें खुलकर साँस ले सके। यूरोप के पुराने साहित्यिक में भी मानववाद था किन्तु वह मानव की परिस्थितियाँ बदलने के बजाय उन्हीं परिस्थितियों में दया और प्यार करने का हामी था, वह एक निष्क्रिय मानवतावाद था। लेकिन सोवियट साहित्य का यह नया धर्म सक्रिय मानववाद है। "मानववादी साहित्य में दया, आदमी के दुःख और सहानुभूति का चित्रण था, रूस के मानववादी साहित्य में आनन्द, चरम आनन्द के लिए वाह्य

परिस्थितियाँ निर्माण करने के लिए सक्रिय संघर्ष का संकेत है। हमारे साहित्य में मानव स्वयं अपने आनन्द का निर्माण है।" (अलेक्सी टालस्टाय)

जिसको घृणा समझा जाता है वह केवल पुरानी सड़े हुई नींवों को उखाड़कर प्रेम की नई नींवें स्थापित करना है। लेकिन उसका अन्तिम उद्देश्य प्रेम और आनन्द ही है।

आज समाज की जो व्यवस्था है उसमें आदमी प्यार करना चाहता है, मगर नहीं कर पाता! लेकिन उसके मन में कसक है, टीस है! वह कहता है—"है तो दुःख की बात, मगर आदमी को अविश्वास करना पड़ता है। मनुष्य समाज के हिस्से हो गये हैं। इस कठोर जीवन ने मनुष्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया है। जी तो यही चाहता है कि सभी प्रेम करें, मगर यह हो कैसे?...इसलिए हमें दो निगाहों से देखने को मजबूर होना पड़ता है। हमें अपने सीने में दो दिल रखने पड़ते हैं। एक सब को प्यार करना चाहता है, परन्तु दूसरा कहता है, ठहरो! अभी ऐसा मत करो!" (गोर्की) यह दूसरा हृदय जो आदमी को प्यार करने से रोकता है, वह बाह्य परिस्थितियों का निर्माण है जो आदमी के दिल पर पत्थर की चट्टान की तरह बैठ गया है। मानव उस चट्टान को उलटने में लगा हुआ है और ज्यों-ज्यों वह अपनी ताकत से इन बाह्य परिस्थितियों को बदल रहा है, त्यों-त्यों उसमें एक नई आत्मा का प्रवेश हो रहा है—"हमारा सभी का एक नया हृदय बन रहा है। हमारे जीवन में एक नई आत्मा प्रवेश कर रही है।" (गोर्की)

यह नई आत्मा ही ईश्वर है। यह नई आत्मा प्रेम और आनन्द की आत्मा है। सोवियट साहित्य में इस नए प्रेम और आनन्द की आत्मा प्रवेश कर रही है और इसीलिए गिर्जों को ध्वस्त कर, परम्परागत ईश्वर का विरोध करके भी सोवियट साहित्य धार्मिक साहित्य है क्योंकि उसमें भौतिकता नहीं, मानवता की पूजा है—घृणा

नहीं, प्रेम और आनन्द की प्रतिष्ठा है और यही ईश्वर है क्योंकि हमारी उपनिषदों में भी कहा गया है—

"अयमात्मा परानन्दः परम प्रेमास्पदम् यतः ।"

प्रगतिवादी साहित्य के नाम पर गन्दी अश्लीलता
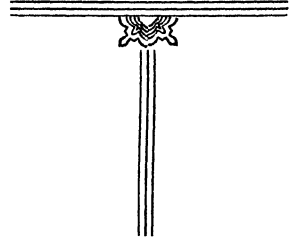
एक अन्य प्रश्न जिस पर भारतीय प्रगतिवादियों ने दोहरा अभिनय किया है, वह है नैतिकता और यौन सम्बन्धों का प्रश्न। मैं उन कट्टरपंथियों या शुद्धतावादियों में से नहीं हूँ जो साहित्य में किसी प्रकार की भी श्रृंगार भावना देखकर नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। मैं मानता हूँ और अपने पूर्ण विश्वास के साथ मानता हूँ कि श्रृंगार कविता का अनिवार्य अंग है और नैतिकता के बहुत प्योरिटन और संकीर्ण बन्धनों में कविता का रस और सौन्दर्य विछिन्न हो जाता है। लेकिन हम यह कभी नहीं भूल सकते कि काव्य और साहित्य में श्रृंगार रस बनकर आता है, वासना का उद्दाम उच्छृंखल और पाशविक चित्रण कभी भी काव्य और साहित्य को ऊँचाई नहीं दे सकता न आत्मा का संस्कार ही कर सकता है। एक नैतिकता का होना आवश्यक ही है। यह ठीक है कि काव्य की नैतिकता धर्मसूत्र की नैतिकता नहीं होती किन्तु वह होती है एक गम्भीर नैतिकता।

भारतीय प्रगतिवाद के प्रारम्भ काल में हमें एक विचित्र सी प्रवृत्ति देखने में आई थी। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी काल में रीतिकाल की उन्मुक्त अनैतिकता के प्रति जितना घोर विरोध हुआ था, उसका

प्रभाव छायावादी युग तक रहा। छायावाद काल के कवियों ने प्रेम को बहुत ही रोमानी, सूक्ष्म, अशरीरी और अपार्थिव रूप दिया था और अपनी शृंगार-भावना (यौन-प्रवृत्तियों) को बादलों, इन्द्रधनुषों, तारों और मलयज की पर्तों में लपेटकर अपनी कविता में रक्खा था। आवेश और उन्मेष की अपेक्षा एक बहुत सुकुमार रेशमी संयम उनके प्रेम में मिलता है।

बच्चन, भगवतीचरण और अंचल में इस अपार्थिवता के प्रति थोड़ा बहुत विद्रोह था, उसे लेकर प्रगतिवाद की नई पीढ़ी अपनी यौन प्रवृत्ति की उच्छृंखलता की अभिव्यक्ति में जुट गई। उपन्यासों के क्षेत्र में और कहानियों के क्षेत्र में इन नये प्रगतिवादियों ने फ्रायड के मनोविज्ञान का भी सहारा लिया और जीवन का चित्रण एक अनैतिक यौन-तृष्णा के रूप में करना शुरू कर दिया। आश्चर्य तो इस बात का होता है कि फ्रायड जैसा घोर प्रतिक्रियावादी बोर्जुआ मनोवैज्ञानिक का सिद्धान्त माननेवाले लेखकों का प्रगतिवादी कहकर प्रचार किया गया और अब भी उनमें से अधिकांश उसी कैम्प के स्तम्भ माने जाते हैं। कुछ ऐसा लगा कि ये लोग नैतिकता की समस्त मान्यताओं को उखाड़ फेंकने में लग गए थे और इसी बहाने अपने मन की दबी हुई वासनाओं की अभिव्यक्ति कर एक विकृत, अस्वस्थ मानसिक सन्तोष का अनुभव करते थे। कविताओं में बिहार के 'रमण' की 'मास्को' एक अनूठी कृति है जिसका बहुत स्वागत किया गया था, जिसमें मास्को का प्रगतिवादी कवि नगर की हेडानिस्ट नारियों की लटकी हुई छातियों और ग्राम युवतियों की कच्ची नाशपातियों से वक्ष का चित्रण कर क्रान्ति की चेतना उत्पन्न करता है। यशपाल की नायिका अपने क्रान्तिकारी प्रेमी की थकावट दूर करने के लिए उसके पास जा लेटती है, जिससे वह गर्भवती हो जाती है। पहाड़ी की कहानियों में इनकी कमी है ही नहीं। उभरे हुए नग्न वक्षों की यह महान प्रगतिवादी परम्परा रमण से लेकर राहुल सांकृत्यायन के वोल्गा से

गंगा तक चलती रही है।* सचमुच ही इस महान प्रगतिवादी धारा ने सैकड़ों साम्यवादी पाठकों के मन में आमूल क्रान्ति कर दी होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

यदि हम इस हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्य की इस मनोवृत्ति का गम्भीर विश्लेषण करें तो हम यह देखेंगे कि इसके पीछे कोई भी कल्याणकारी प्रगतिवादी भावना न होकर केवल एक अस्वस्थ, विकृत प्यास थी जो अपनी तृप्ति के लिए शाब्दिक व्यभिचार का मार्ग ढूँढ़ रही थी। इन प्रगतिवादी लेखकों में से कुछ तो इस प्रकार के राजनीतिक कार्यकर्ता थे जो बहुत दिनों तक अपने परिवार से छूटकर बन्दीगृहों में अपनी तरुणाई होम कर चुके थे, कुछ ऐसे घुमक्कड़ थे जो अपने घर की सीमाएँ तोड़कर देश-विदेश में घूम आये थे। कुछ ऐसे युवक थे जिनके मन में समाज के प्रति एक ज्वलन्त विद्रोह था, किन्तु उनमें एक उचित मार्ग खोज निकालने का धैर्य और समन्वयात्मक संयम का सर्वथा अभाव था। भारतीय जीवन में जो महान् उथल-पुथल हो रही थी, उसमें ये लोग एक विहङ्ग की तरह अपनी डाल से छूट कर उलझ गये थे। इनकी बँधी बँधाई मान्यताएँ टूट चुकी थीं, लेकिन उसके स्थान पर उन्हें कोई नई और महान् दिशा नहीं मिल पाई थी, तूफान ने उनका नीड़ उजाड़ दिया था, किन्तु उनके पंखों में आकाश को चीरकर स्वर्ग की ऊँचाइयों तक पहुँचने की शक्ति नहीं थी। लेकिन इस पतन में भी एक अहंकार था जिसने उन्हें मजबूर कर दिया था कि वे अपनी पथभ्रष्टता को ही विद्रोह समझें, अपने मन की दुर्गन्धित वासना के झकोरों में चक्कर काटने को ही प्रगति कहें और उस पर घमण्ड करें! उनकी विद्रोही प्रवृत्ति एक दिशाहीन उच्छृङ्खलता और दमित वासनाओं का अस्वस्थ उबाल मात्र बनकर रह गई थी।

---

*इन स्थलों का उद्धरण देना मैंने उचित नहीं समझा केवल रचनाओं का उल्लेख कर दिया है।

यह परिस्थिति केवल भारत में ही नहीं थी। सोवियट रूस में भी क्रान्ति के बाद इस उच्छृङ्खलता का एक युग आया था। किन्तु सोवियट रूस के भाग्यविधाताओं ने इस जहर में छिपा हुआ खतरा पहचान लिया था और नग्न प्यासवाले इस प्रगतिवाद के साँप को उन्होंने दृढ़ता से कुचल दिया था। जैसा वेब ने अपनी 'सोवियट कम्यूनिज्म' नामक पुस्तक में लिखा है—"बोलशेविक शासन की प्रथम दशाब्दी में यौन सम्बन्धों को केवल एक वैयक्तिक प्रश्न समझा जाता था, तथा सिवा कुछ आर्थिक उत्तरदायित्व के, अन्य किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं था।

"किन्तु दूसरे दशक में हम रुख को बहुत बदला हुआ पाते हैं। क्रान्ति के बाद के वर्षों में जो अश्लील अनैतिकता क्रान्तिकारियों में आ गई थी, लेनिन उसे बहुत पसन्द नहीं करता था। क्रान्ति के दिनों में अक्सर यह दृष्टिकोण सामने रक्खा जाता था कि यौन सम्बन्ध भी भूख और प्यास की तरह स्वाभाविक है और एक गिलास पानी पीने से ज्यादा उसका कोई महत्व नहीं। लेनिन इस सिद्धान्त से घृणा करता था। १९२१ में लेनिन ने क्लारा जेटकिन से कहा था—'मैं इस एक गिलास पानी वाले सिद्धान्त को सर्वथा मार्क्स विरोधी सिद्धान्त मानता हूँ। यौन सम्बन्धों में केवल प्राकृतिक प्यास को ही आधार नहीं बनाया जा सकता। उसका आधार सांस्कृतिक विशेषताएँ भी होती हैं चाहे वह उच्च स्तर की हों अथवा निम्न स्तर की।' एँजेल्स ने अपने 'परिवार के विकास' नामक ग्रन्थ में यह दिखलाया है कि साधारण यौन-प्रवृत्ति का एक वैयक्तिक प्रेम-भावना में मर्यादित हो जाना कितना महत्वपूर्ण है।......यह सच है कि आदमी को प्यास लगती है और उसका बुझाना आवश्यक है, किन्तु क्या एक स्वाभाविक आदमी स्वाभाविक परिस्थितियों में नाली में लोट जायगा और प्यास बुझाने के लिए चुल्लू से गन्दा पानी पियेगा? या ऐसे गिलास से पानी पियेगा जिसमें करोड़ों होठों की जूठन और थूक लगे हों?"

"मेरी राय में इस समय फैली हुई यह यौन उच्छृङ्खलता जीवन को आनन्द और शक्ति नहीं देती, उसका सन्तोष और स्वास्थ्य छीन लेती है। क्रान्ति के युग में यह अशुभ है, बहुत अशुभ।

"प्रोलेटेरियट वर्ग उत्थान की दिशा में चलनेवाला वर्ग है। उसको किसी भी रूप में, किसी भी नशे की आदत नहीं डालनी चाहिए। न शराब का नशा और न मांसलता का! उसको जरूरत है लड़ाई की, एक सशक्त वर्गवादी साम्यवादी प्रेरणा की। इसलिए मैं फिर कहूँगा, कमजोरी, स्वास्थ्य का ह्रास, शक्ति का विनाश, पाप है। आत्म-संयम, आत्मानुशासन और गुलामी का विरोध, चाहे वह यौन-प्रवृत्ति की ही गुलामी क्यों न हो!' "

लेनिन के साथ ही साथ गोर्की ने भी नैतिकता पर बहुत जोर दिया था। रोमा रोलाँ के नाम लिखे गए ३ जनवरी १९२२ के सेन्ट ब्लेरियन से भेजे हुए पत्र में लिखा था—"क्रान्ति के प्रथम दिवस से ही मैंने रूसी जनता को दृढ़ नैतिकता का महत्व सिखाने का प्रयास किया है। नैतिकता कम से कम संघर्ष और संक्रान्ति काल में बहुत ही आवश्यक होती है।......कभी भी कोई भी सच्चा साम्यवादी नहीं हो सकता, यदि उसके अन्तःकरण में जन्म से ही धर्म की तरह दृढ़ नैतिकता न हो!"

सोवियट सरकार ने धीरे-धीरे अनैतिक उच्छृङ्खलता की हानि को समझकर सोवियट रूस के यौन जीवन को संयमित किया। गर्भपात, अवैध सम्बन्ध, तलाक आदि के नियमों का शिकंजा काफी कस दिया गया। और परिणाम यह है कि नैतिकता की दृष्टि से रूस आज संसार के सभी देशों में प्रमुख है। वेब के शब्दों में—"यौन उच्छृङ्खलता आज कम्यूनिस्ट विचारधारा की कट्टर विरोधी वस्तु समझी जाती है। ......साहित्य या कला में किसी प्रकार की अश्लीलता को स्थान नहीं दिया जाता। रूस के नगरों में यौन-प्रवृत्ति को भड़काने वाली चीज़ें दुनिया के किसी भी देश के नगरों से कम मिलेंगी।"

लेकिन महान् सोवियट के पिट्ठी हिन्दोस्तानी अनुयायियों का क्या हाल है ? हम भी पाँचवें सवार हैं, यह कहकर हमारे कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी दोस्त कभी-कभी अपनी पवित्रता का दम भरते हैं और अपनी नैतिकता पर गर्व करने का प्रयास करते हैं। वे भी यह साबित करना चाहते हैं कि यौन उच्छृङ्खलता और लेनिन के शब्दों में 'नाली में लोट कर गन्दा पानी पीना" उन्होंने छोड़ दिया है। 'समाज और साहित्य' में अंचल (जो कम्यूनिस्ट तो नहीं हैं, पर 'फेलो ट्रैवलर' कहलाने का मोह नहीं छोड़ पाते) लिखते हैं—"प्रगतिवादी जीवन-दर्शन में मुक्त यौन सम्बन्धों के लिए और अमेरिकन और फ्रेंच यौन-क्रीड़ाओं के लिए स्थान नहीं है।......यौन-विकृतियाँ और अत्यधिक आसक्तियाँ तो उस समाज में ही अधिक रहती हैं, जहाँ श्रमशोषक वर्ग मुफ्तखोरी में अपना समय काटा करता है और आत्मिक बल से रहित अपने पापों की छाया में, भीतर ही भीतर आशंकित और अपनी आत्मिक अशान्ति और मनोविप्लव से पीड़ित, शराब और ब्राथलों की शरण ढूँढ़ा करता है।"

पंक्तियाँ बड़ी ही आशावादी हैं। लेकिन यथार्थ इसके सर्वथा विपरीत है।

मेरे सामने एक उपन्यास है। बिल्कुल ताजा १९४८ में निकला हुआ, नागार्जुन का उपन्यास "रतिनाथ की चाची !" नागार्जुन कम से कम प्रगतिवादियों के हल्के में बहुत ही मशहूर हैं और कम्यूनिस्टों के तो वे महाकवि माने जाते हैं। 'जनयुग' के अंक बहुधा उनकी कविताओं से सुशोभित रहते थे। गांधीजी की मृत्यु के बाद 'हंस' ने लिखा था कि नागार्जुन ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने गांधी की मृत्यु का सच्चा जनवादी महत्व समझा है। बच्चन, पन्त, मैथिलीशरण, दिनकर सभी के मुकाबिले में अगर सचमुच कोई प्रगतिवादी विचार का था तो नागार्जुन ! (हम यह न भूल जायँ कि नागार्जुन कम्यूनिस्ट हैं),

उन्हीं महा-महिम, अल्ट्रा-प्रगतिवादी लेखक की रचना के कुछ स्थलों की ओर मैं संकेत करना चाहूँगा।

यह उपन्यास मिथिला प्रदेश के जीवन पर लिखा गया एक उपन्यास है। लेखक से आशा की जाती थी कि प्रगतिवादी होने के नाते वह एक महान् क्रान्तिकारी कथानक की योजना करेगा और उसके उपन्यास में स्थल-स्थल पर मानवता को आगे बढ़ानेवाली दृढ़ प्रेरणा का अंकन होगा। लेकिन सारा उपन्यास एक विकृत यौन-प्रवृत्ति की भद्दी और अश्लील अभिव्यक्ति के स्थलों से भरा पड़ा है। एक स्थान पर (१४२ पृ०) है—

"माँ के मरने के बाद लगभग आठ साल तक रतिनाथ के······ का अगला हिस्सा ढँका रहा। नंगा नहाते समय, या दिशा फराकत के वक्त उसके साथी उसको ताना मारते— रत्ती, तेरी न तो शादी होगी, न तेरे किये लड़का बच्चा पैदा होगा। तू तो हिंजड़ों से भी बदतर है। रतिनाथ को साथियों का यह ताना चुभता और अकेले में वह फफक-फफक कर रोता। एक दिन जब बेचारा इसी उधेड़बुन में पड़ा था तो सत्तो ने आकर पीठ थपथपाई थी और कहा था—रत्ती, तेरा इलाज मैं करूँगा, चिन्ता मत कर। और सचमुच सत्तो के ही बताए तरीके से रतिनाथ की वह त्रुटि दूर हुई थी। नियमित रूप से कई दिनों तक···········पर······हो गई तब रत्ती ने तारा बाबा की दुर्गा को पाँच पैसे का प्रसाद चढ़ाया था।"

कितना रस लेकर नागार्जुन, महाक्रान्ति-द्रष्टा नागार्जुन ने यह वर्णन लिखा है। भारतीय प्रगतिवादियों की स्वस्थ यौन-प्रवृत्ति का कितना बेहतरीन नमूना है यह! और—किसान-मजदूरों के लिए कितना महान सन्देश है! शोषक पूँजीपति तो इन पंक्तियों को पढ़ते ही प्राण त्याग देंगे और पूँजीवादी व्यवस्था का गढ़ अरराकर गिर पड़ेगा! लेकिन और भी लीजिये, यह तो महज पहला नमूना है—रतिनाथ के भाई उमानाथ का विवाह तय हो रहा है—"आँगन

में औरतों ने कमीज और बनियाइन खुलवाकर उमानाथ को गहरी निगाह से देखा। एक मुँहफट खवासिन बोली—आँख मूँद लो भइया! धोती भी खुलेगी।

"आ, तू ही खोल दे—अधेड़ उम्र की एक औरत ने अपनी छोटी आँखें नचाकर उससे कहा। वह अप्रतिभ हो गई। उमानाथ को ट्राम कम्पनी का वह डाक्टर याद आया जिसके सामने इसी भाँति कपड़े खोलकर खड़ा होना पड़ा था। उस दिन भी पसीना निकल आया था, और आज भी। फर्क यही था कि उस दंतटुटे डाक्टर ने……मगर इन औरतों ने वैसा कुछ नहीं किया!"

इन स्थलों में कहाँ वह गम्भीर नैतिकता है, कहाँ वह प्रांजल पवित्रता है, कहाँ वह जीवन का सशक्त सन्देश है, जो गोर्की की रचनाओं में पाया जाता है? गोर्की ने जीवन के किस अंग का चित्रण नहीं किया। गोर्की ने रूस के जीवन के किस पहलू को उसके यथार्थ रूप में नहीं चित्रित किया, लेकिन मजाल है कि कहीं पर कुरुचि या गन्दगी का आभास भी हो! और इधर हैं हमारे जनयुग के व्यास—श्री नागार्जुन, 'रतिनाथ की चाची' के यशस्वी लेखक, जो मिथिला के जीवन का चित्रण कर रहे हैं। एक स्थल पर तो अपने वर्णनों में वे पाशविक बर्बरता की शैली पर उतर आए हैं, जहाँ उन्होंने अप्राकृतिक व्यभिचार की एक घटना का खुला चित्रण किया है।

"रतिनाथ को नींद आ गई, परन्तु वह गाढ़ी नींद नहीं थी। सोते समय मालूम हुआ कि कोई धीरे धीरे उसकी जाँघ पर हाथ फेर रहा है……………………………'

इसके बाद का वर्णन इतना अश्लील है, इतने खुले शब्दों में है कि उसका उद्धरण भी देने में जुगुप्सा होती है। अन्य उद्धरणों में भी बहुत प्रयास और साहस करने पर भी कुछ स्थलों को छोड़ना ही पड़ा। लेकिन मैं पूछता हूँ कि इस रचना में कहाँ है वह "धर्म की सी दृढ़ नैतिकता" जिसकी क्रान्तिकाल में गोर्की ने गम्भीर आवश्यकता बतलाई

थी ! कहाँ है वह 'आत्मानुशास' आत्म-संयम जिसके लिए लेनिन एक युग तक लड़ता रहा है ! कहाँ है अलैक्जेंडर कुप्रिन की कलम की वह स्वाभाविक पवित्रता जो "यामा द पिट" में चकलों का खुला वर्णन करते हुए भी हमारे मन में कोई भी दूषित प्रभाव पैदा करने के बजाय उन अभागिनों के लिए हृदय में ममता और दया पैदा करती है और उस व्यवस्था के प्रति विद्रोह, जिसमें नारी केवल 'योनि-मात्र' बन गई है ! अगर यही प्रगतिवादी नैतिकता है तो मेरा नम्र निवेदन है कि कम्यूनिस्ट पत्र अपने अंकों में कोकशास्त्र सचित्र क्यों नहीं धारावाहिक रूप से छापते हैं ? क्यों अपने नागार्जुन जैसे प्रगतिवादी लेखकों को गोर्की, कुप्रिन और शोलोखव की परम्परा में रख कर नागार्जुन की महान प्रतिभा और अपनी महान आलोचना बुद्धि को अपमानित करते हैं ?

लेखक के परिचय में कहा गया है "स्नेह, करुणा, अभाव, पश्चाताप और यथार्थता की यह कहानी आपको ले जाकर उसी धरातल पर खड़ा कर देगी जहाँ शरतचन्द्र की कथा वस्तुएँ अपने पाठकों को ले जाकर खड़ा कर देती हैं।......मिथिला की महिमा मण्डित परम्परा और सुजला सुफला शस्य श्यामला भूमि की झाँकियाँ पाकर आप मुग्ध रह जायँगे !" शरतचन्द्र के मुँह पर इससे ज्यादा बड़ा तमाचा नहीं मारा जा सकता था। वह शरतचन्द्र जो इतने उपन्यास लिखने के बावजूद, चुम्बन तो दूर, एक स्पर्श तक का चित्रण करने में हिचकता रहा, जिसने भारतीय जीवन की प्रांजल मर्यादा को गौरव के शिखर पर चढ़ा दिया, उसकी कथावस्तु से 'रतिनाथ की चाची' का मुक़ाबला वही कर सकता है जो अपना ईमान ताख पर रख आया हो, या अपनी अक़्ल गुम कर आया हो। और यह 'मिथला की महिमा मण्डित परम्परा का चित्रण' है ? आखिर प्रेमचन्द ने भी तो अवध का चित्रण किया है ! आखिर शरत ने भी तो बंगाल का चित्रण किया है ! लेकिन हरी-हरी दूब हटाकर, फूल बिखराकर, कीचड़ में मुँह डुबोने

और नाबदान में पैर डुबोने का शौक नागार्जुन की तरह किसी को नहीं था।

अंचल ने बड़े घमण्ड से लिखा है कि—"यौन विकृतियाँ उसी समाज में होती हैं जहाँ श्रम-शोषक वर्ग के मुफ्तखोरे होते हैं!" लेकिन अगर नागार्जुन का यह उपन्यास यौन विकृति की एक महान दुर्गन्धित रचना नहीं है तो और क्या है? अंचल का कहना बिल्कुल सच है। मुफ्तखोरे और लिख ही क्या सकते हैं? और जिनमें साहित्यिक साधना नहीं, जनता के प्रति नैतिक उत्तरदायित्व नहीं, अपनी संस्कृति के प्रति गम्भीर स्नेह नहीं, जो अपनी कलम को अपने हृदय के रक्त में डुबो कर नहीं लिखते, अपने अन्तर के सत्य को साक्षी बनाकर, मानवता की महान सरस्वती के आदेश पर नहीं लिखते और फिर भी महज पार्टीबन्दी के बल पर जिन्हें महान लेखक क़रार दिया जाता है वे मुफ्तखोरे नहीं तो और क्या हैं? उनकी मनोवृत्ति का अंचल के शब्दों से ज्यादा अच्छा चित्रण कहाँ मिल सकता है—"आत्मिक बल से रहित, अपने पापों की छाया में भीतर ही भीतर आशंकित और अपनी आत्मिक अशान्ति और मनोविप्लव से पीड़ित, शराब और बाथलों की शरण ढूँढ़ते हुए!" शस्य श्यामला मिथिला में नागार्जुन को चित्रण करने के लिए यही पहलू मिले! लहलहाते हुए सुनहले गेहूँ के खेतों में वाराह समूह अपना ही भोजन सूँघता फिरता है। इसमें अचरज की क्या बात? अपनी अपनी रुचि, मर्यादा, नैतिक स्तर और प्रवृत्तियों की बात है!

मुझे कोई एतराज न होता यदि नागार्जुन तथा उन्हीं की परम्परा के अन्य महान प्रगतिवादी लेखक इस तरह का घासलेटी प्रगतिवादी साहित्य लिखते, उसे कचौड़ीगली में छपवाते और 'किस्सा साढ़े तीन यार' के साथ साथ फुटपाथों पर विशुद्ध जन-साहित्य के साथ बेचते और जनता को कृतार्थ करते। किन्तु जब इस तरह की निन्दित यौन प्रवृत्ति और अश्लीलता से भरा हुआ घिनौना, बीमार कीड़ों से

कुलबुलाता हुआ साहित्य प्रगतिवादी और जनक्रान्ति का उन्नायक साहित्य घोषित किया जाता है तो गुस्सा आता है।

लेकिन इस तरह के गन्दे, उच्छृङ्खल, उत्तदायित्वहीन अश्लील साहित्य का सोवियट में कोई स्थान नहीं।* रूस के सहित्यिक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व से भली भाँति अवगत हैं और वे अपने राष्ट्र के इस संकट काल में कदम साध-साधकर बहुत सावधानी से चल रहे हैं। उन्हें बराबर इस बात का ध्यान रहता है कि उनकी कृतियों से जनता में एक नैतिक अराजकता और सस्ती सेक्स उत्तेजना न फैले, एक व्यवस्थित और सयंमित जीवन की ओर आकर्षण बढ़े।

---

*जहाँ तक प्रगतिवादी साहित्य और अश्लीलता का प्रश्न है, मैं एक बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। हिन्दी के अधिकांश पाठकों में यह भ्रम है कि अश्लीलता प्रगतिशील साहित्य की एक विशेषता है। जैसा मैं पहले भी कह चुका हूँ कि साहित्य में अश्लीलता तो १९वीं शती के यूरोपियन ह्रासोन्मुख (डिकैडेन्ट) लेखकों की देन है और बाद में फ्रायड का सहारा लेकर उन्हीं ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों ने साहित्य में अश्लीलता का रूप धारण कर लिया। वैसे स्वयम् फ्रायड साहित्य में सेक्स का महत्व अवश्य मानता है, लेकिन वह भी अनैतिकता, उच्छृंखलता या अश्लीलता का समर्थक नहीं। मार्क्सवाद में तो इस प्रकार के गन्दे सेक्स साहित्य के लिए कोई स्थान ही नहीं है। जैसा हमने देखा कि सोवियट साहित्य में इन प्रवृत्तियों का कठोरता से उन्मूलन किया गया और इन्हें विकसित नहीं होने दिया गया।

लेकिन भारत में प्रगतिवाद के प्रारम्भ काल में बिना समझे-बूझे हर नई साहित्यिक प्रवृत्ति को प्रगतिवाद में सम्मिलित कर लिया गया, चाहे वह पाश्चात्य डिकैडेन्ट साहित्य की जूठन ही क्यों न हो? अधिकांश प्रगतिवादी कहे जानेवाले लेखकों के साहित्य में सेक्स की असामाजिक और अश्लील प्रवृत्तियाँ विराजमान थीं, किन्तु हमारे यहाँ

इस दिशा में वे गोर्की, और कुप्रिन की ही परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। इस विषय में और अधिक प्रभाव न देकर गोशर के सर्वप्रिय युद्धकालीन उपन्यास 'नीली डैन्यूब' के ही एक अंश को उतधृत किये दे रहा हूँ—

'एक दिन शाम को उनके कमरे में एक बहुत दिलचस्प बहस छिड़ गई। एक जिन्दादिल भूरे बालोंवाला सार्जेन्ट अपनी प्रणय-कथाओं का विस्तार से वर्णन कर रहा था और यह भी बता रहा था कि कैसे वह अपनी पत्नी को साफ धोखा दे जाता है।

"तो तुम औरत को समझते क्या हो ? पैर की जूती !" वोरोन्ट्-

के तथा-कथित प्रगतिवादी आलोचकों ने इन प्रवृत्तियों का परिहार करने का कोई प्रयास न किया और बजाय एक प्रगतिवादी साहित्य के निर्माण पर जोर देने के उन्होंने एक प्रगतिवादी गुटबन्दी बनाने पर अधिक ध्यान दिया। परिणाम यह हुआ कि इस तरह की गर्हित प्रवृत्तियाँ उनके लेखकों में ज्यों की त्यों बनी रहीं और उनका सबसे घृणित और विकृत स्वरूप नागार्जुन के इस उपन्यास में देखने को मिला।

इसके बावजूद प्रगतिवादियों की निष्पक्षता और ईमानदारी का यह हाल है कि जहाँ 'हंस' में अंक के बाद अंक में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अरविन्दवाद पर अशोभन से अशोभन और अशिष्ट से अशिष्ट प्रहार किए गए, वहाँ नागार्जुन के इस साहित्य को वे लोग चुपचाप पी गए !

लेकिन इन गुटबाजों को यह नहीं मालूम कि इस प्रकार के कार्यों से ये लोग उन रूढ़िवादियों को अवसर और प्रोत्साहन देते हैं, जो सच्चे प्रगतिवादी साहित्य की भी निन्दा करने के लिए सदा सन्नद्ध रहते हैं। जिस समाजवाद की आड़ में ये लोग अपना भोंपू बजाते हैं, उसी लक्ष्य के प्रति यह उनका विश्वासघात है।

सोव ने कड़े स्वर में पूछा —"अगर चाहा तो पहना न चाहा तो उतार फेंका ? क्या परिवार ही वह इकाई नहीं है जिससे हमारा समाज, हमारा राष्ट्र, हमारा संगठन बनता है ?"

"इकाई नहीं, कुटुम्ब तो समाज का अणु है !" हवाई जहाज के बन्दूकची ने कहा और अपने पैर नीचे लटका लिए।

"अणु...ठीक कहा तुमने ! और क्या यही अणु हमारी इच्छा-शक्ति, हमारी कल्पना, हमारे विकास और संयम का आधार-विन्दु नहीं है ? क्या कुटुम्ब में ही हमारे बच्चों को सबसे पहली सामाजिक शिक्षा नहीं मिलती ?...और तुम अपने को देखो......इन बेहूदी बातों को बकते हुए शर्म नहीं आती तुमको ?"........

इन बातों से प्रेरित होकर वोंरोन्टसोव ने एक दन्त-कथा बताई, एक साइबेरियन दन्त-कथा, वहाँ के हंसों के बारे में—

"...और अगर जोड़े का एक हंस अकेला बच जाय" वोरोन्टसोव ने कहा, उसकी आँखें बन्द थीं—"तो दूसरा पानी से निकल आता है और ऊपर उड़ता है। ऊपर, ऊपर, यहाँ तक कि वह एक सफेद चिह्न मात्र रह जाता है। उसके बाद वह दोनों पंख समेट लेता है और पत्थर की तरह जमीन पर आ गिरता है........"

न केवल इसी अध्याय में, वरन् पूरे उपन्यास में इसी नैतिक पवित्रता का वातावरण है। सोवियट साहित्य में सस्ती और गन्दी अश्लीलता का कोई स्थान नहीं। स्पष्ट है कि नागार्जुन तथा उन्हीं की तरह के अन्य तथाकथित प्रगतिवादी अश्लील लेखकों ने यह प्रवृत्ति पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के ह्रासोन्मुखी साहित्य से सीखी है और हिन्दी साहित्य में यह गन्दगी प्रगतिवाद का लेबिल लगा कर उंडेली जा रही है। यह प्रवृत्ति कतई मार्क्सवादी नहीं है, न सोवियट साहित्य में ही इसका कोई स्थान है, फिर यह प्रगतिवादी कैसे है यह समझ में नहीं आता। अपने को प्रगतिवादी कहनेवाले कम्यूनिस्ट आलोचक और पत्र भी इसके विरुद्ध आवाज नहीं उठा

रहे हैं क्योंकि नागार्जुन तथा इसी प्रकार के अन्य लेखक उनके गुट के हैं और उन लोगों के लिए गुटबन्दी का महत्व सत्य से कहीं ज्यादा है। भारत के कम्यूनिस्टों के लिए चाहे इस प्रकार के लेखक आज के कालिदास हों किन्तु यदि यह पुस्तक सोवियट रूस में छपती तो अभी तक वह जरूर जब्त हो चुकी होती, यह बात दूसरी है कि यहाँ के कम्यूनिस्ट उसे बाइबिल की तरह पढ़ते हों!

कलाकार किसी का मानसिक गुलाम नहीं बनेगा
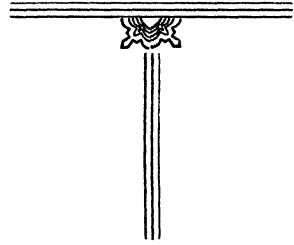
रोमा रोलाँ प्रगति में विश्वास करता था, रूस के पक्ष में
था, फिर भी वह कम्यूनिस्टों की नीति से असहमत
था। उसने कलाकार की मानसिक स्वाधीनता
के लिए एक शक्तिशाली आन्दोलन उठाया
था जिसमें उसे बड़े विचित्र और
बहुत कटु अनुभव हुए।

किसी भी युग का महान प्रतिभाशाली कलाकार अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। महान काव्य की अनुभूति के डोरे कलाकार और साधारण मानव के प्राणों को कभी भी विच्छिन्न नहीं होने देते। किन्तु एक महान कलाकार में जीवन की गहनतम वेदना, उससे ऊपर उठने की प्यास और चारो तरफ छाये हुए धुंधलके को चीर कर एक सशक्त जीवन दर्शन की मशाल लेकर आगे बढ़ने का साहस होता है। वह जहाँ गायक या लेखक होता है, वहीं वह पैगम्बर भी होता है।

लेकिन एक विशेषता के साथ! एक कलाकार अपने युग की समस्याओं का जो समाधान देता है वह किसी भी राजनीतिज्ञ के समाधान से ज्यादा गहरा, ज्यादा स्थायी और जीवन की सम्पूर्णता को अधिक समीप से ग्रहण करनेवाला होता है। जहाँ राजनीति के सामने केवल तत्कालीन समस्या होती है, उसे हल करने की बेताबी में वह यह भूल सकता है कि वह मानवता के कुछ श्रेष्ठतम सिद्धान्तों का बलिदान कर रहा है जिसका प्रभाव आनेवाले युग पर बुरा पड़ेगा, वहाँ कलाकार के सामने मानवता की सांस्कृतिक विकास की अटूट अतीत परम्परा और महान ज्योतिर्मय भविष्य का प्रश्न भी रहता है। साथ ही वह मानवता के विकास के कुछ उन पहलुओं का महत्व भी समझता है, जिसकी ओर राजनीतिज्ञ का ध्यान नहीं जा पाता।

ऐसी स्थिति में अक्सर मानवता के विकास का ही पक्ष लेकर महान कलाकार को राजनीतिक संकीर्णता के विरुद्ध लड़ना पड़ता है। एक ऐसी ही बड़ी महत्वपूर्ण घटना रोमा रोलाँ के जीवन में हुई। वह अपने समय का महानतम प्रगतिवादी लेखक था। कम्यूनिस्टों और समाजवादी प्रयोगों के साथ उसकी पूरी सहानुभूति थी, रूस का पक्ष लेकर रोमा रोलाँ सदा पाश्चात्य राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ता रहा, लेकिन एक समय आया जब कि कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी उसके कन्धे पर चढ़ गये, उसकी ज़ुबान पकड़नी चाही, उसकी निगाहें बाँधनी चाहीं, उसकी विचारों पर क़ब्जा करना चाहा और अपने पंजों से उसकी गर्दन जकड़ ली। अन्त में रूस का पक्ष लेते हुए भी उसे अपने देश के संकीर्ण प्रगतिवादियों का विरोध करना पड़ा था।

यह घटना हुई थी सन १६२२ के लगभग। प्रथम महायुद्ध समाप्त हो चुका था। रोमा रोलाँ १६वीं शताब्दी का अन्त और बीसवीं शती के दो दशकों में मानव जाति की प्रगति को अपनी दूर-दर्शिनी आँखों से देख चुका था। पश्चिमी यूरोप की साम्राज्यवादी व्यवस्था किस प्रकार धीरे-धीरे आदमी को वहशी बना रही थी, किस प्रकार आदमी के हाथों में पंजे निकल आये थे, किस तरह उसके होठों में खून की प्यास दिनोंदिन गहरी बैठती जा रही थी, किस तरह दुनिया के वातावरण में एक गहरा, आत्मा को खा जाने वाला अँधेरा छा गया था और उस अन्धेरे में आदमी कीड़े-मकोड़ों की तरह एक महान यन्त्रणा-चक्र में पिसता जा रहा था, यह सब एक ट्रैजेडी के दृश्यों की तरह रोमा रोलाँ के सामने आ रहा था। रोमा रोलाँ अपने युग की समस्याओं के प्रति जितना जागरूक और सचेत था, उतना शायद उस समय का कोई भी कलाकार न था। अपने महान उपन्यास "जाँ क्रिस्तोफ" में उसने एक ऐसे कलाकार का चित्रण किया था जिसने १६वीं शती के अन्त और २०वीं शती के प्रारम्भ के क्रूर और अशान्त संक्रान्ति-काल में भी समस्याओं

के सामने अपनी जीवन-प्रगति को पराजित नहीं होने दिया था। रोमा रोलाँ के महान मानववाद के लिए ही उसे नोबेल प्राइज भी दिया गया था।

महायुद्ध समाप्त होने पर उसने देखा कि यूरोप का वातावरण बहुत ही विषाक्त है। वार्साई की सन्धि एक स्थायी सन्धि नहीं थी, वह महज दूसरे महायुद्ध की भूमिका की प्रथम पंक्ति थी। उसी अन्धकार में घुटते हुए युग में रोमा रोलाँ ने सब से पहले तमाम दुनिया के लेखकों को एक साथ मिल कर एक अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति-संघ बनाने का आह्वान दिया था। लेकिन उसकी पीठिका स्वरूप उसने एक विचार स्वातन्त्र्य का घोषणापत्र जारी किया था जिस पर सारी दुनिया के २०० से अधिक महान लेखकों के हस्ताक्षर थे। उस घोषणापत्र में उसने स्पष्ट लिखा था कि—"युद्ध ने बुद्धिजीवियों के संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अधिकतर बुद्धिजीवियों ने अपनी कला, अपना विज्ञान, अपना मस्तिष्क अपनी सरकार को समर्पित कर दिया है। + + + + + हमको इन समझौतों के बन्धनों से अपनी प्रतिभा को मुक्त कर लेना चाहिये, हमारे लिए यह गुलामी अपमानजनक है। विचार और प्रतिभा किसी के गुलाम नहीं होते···सिवा विचार के हम अपना स्वामी और किसी को स्वीकार नहीं कर सकते। हम लेखकों का निर्माण ही इसीलिए हुआ है कि हम विचार की ज्योति को, विचार की मशाल को सदा प्रज्वलित रक्खें और जो लोग भी भटक गए हों उनको फिर उजाले की दुनिया में वापस बुला लावें। हमारा कर्तव्य है कि अँधेरे में हरहराते हुए आवेशों के तूफानों में हम अपनी मंजिल को ध्रुवतारे की तरह शाश्वत और अटल रक्खें।······हम केवल सत्य का आदर करते हैं, केवल सत्य, बिना सीमा, बिना बन्धन और बिना वाद और जाति की संकीर्णताओं के!"

लेकिन वह प्रारम्भ से ही साम्यवाद का हामी था। उसने रूसी क्रान्ति का स्वागत किया था और जिस समय अनातोल फ्रान्स वगैरह

रूस का विरोध कर रहे थे, नई सोवियट सरकार के प्रति संशकित थे, उस समय भी उसने रूस का स्वागत किया था। उसने १९१९ में ही लिखा था कि—"अक्टूबर क्रान्ति के योद्धाओं का पथ बिल्कुल ठीक था, यह उन्होंने अपने कार्यों से प्रमाणित कर दिया है।" १९१९ के प्रारम्भ में ही प्रसिद्ध समाजवादी कार्यकर्त्ताओं लिबनेख़्त और रोज़ा लक्जेम्बुर्ग की हत्या जर्मनी में जिस निर्ममता से की गई थी उससे वह स्तब्ध रह गया था। रूस में क्रान्ति की सफलता के बाद अमेरिका और इंगलैण्ड तथा अन्य पाश्चात्य पूँजीवादी प्रजातन्त्रों ने रूस के विरुद्ध एक जहरीला प्रचार शुरू कर दिया और रूस में एक भयंकर अन्न-संकट पैदा कर देने का षडयन्त्र कर रहे थे। उस समय २६ अक्टूबर १९१९ में रोमा रोलाँ ने ला ह्यूमेनिते में लिखा था—'यूरोप के बोर्जुआ मित्रराष्ट्र, जर्मनी तथा कुछ अन्य तथाकथित तटस्थ राष्ट्रों ने जिस तरह रूसी क्रान्ति के विरुद्ध एक शर्मनाक गठबन्धन कर रक्खा है, वह मानवता के प्रति एक घृणित अपराध है। इससे उनकी प्रजातन्त्रवादी नकाब उलट गई है और अन्दर का घिनौना चेहरा निकल आया है।......हमेशा से उनका यही काम रहा है।......पुरानी, विकृत व्यवस्था को उखाड़ कर नई व्यवस्था की स्थापना का वे लोग सदा से विरोध करते रहे हैं, और इसीलिए आज वे हमारे रूसी भाइयों के महान प्रयास को भी कुचलने में लगे हैं। लेकिन एक नई दुनिया की प्यास, एक ज्यादा समताशील और मानवतापूर्ण व्यवस्था की प्यास एक अमर प्यास है। हजार बार बुझाने पर भी वह सुनहली लपटों में धधक उठती है।" कम्यूनिज्म के प्रति उसका यह विश्वास बहुत दिनों तक बना रहा। 'कम्यून' पत्रिका ने सभी यूरोपियन लेखकों से एक प्रश्न पूछा था "आप क्यों और किसके लिए लिखते हैं? इसके उत्तर में रोमा रोलाँ ने लिखा था—"मैं किसके लिए लिखता हूँ? मैं उनके लिए लिखता हूँ जो प्रगति की अभियान-वहिनी के अग्रदूत हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय मोर्चे पर लड़ रहे

हैं, जिनकी विजय उस महान् मानव-राष्ट्र की स्थापना करेगी जो सीमाहीन और वर्गहीन होगा। कम्यूनिज्म ही उस महान् विश्वव्यापी सामाजिक उत्थान की अधिनायक है और बिना किसी स्वार्थ और समझौते के विजय का झण्डा लेकर ऊंचाइयों को जीतने के लिए आगे बढ़ रही है।………" इससे दो वर्ष पहले भी रोमा रोलाँ रूस के प्रति अपनी अगाध ममता प्रगट कर चुका था। ला नूवेल रेव्यू मान्देइल में १६३१ में रोमा रोलाँ ने एक लेख लिखा था जिसमें उसने कहा था—"जहाँ तक मेरा सवाल है, मेरा रास्ता साफ है, अगर रूस को किसी प्रकार का धक्का पहुँचता है, तो चाहे कोई भी दुश्मन क्यों न हो, मैं रूस के साथ हूँ। मैं यूरोप के शोषकों का पक्ष लेकर कभी नहीं लडूँगा।" प्रोलेटेरियट जनता के लिए उसमें कितना अदम्य उत्साह था, वह जीवन के अभावों और कटुताओं के प्रति कितना ईमानदार था और कितनी गहराई से वह उनके लिए महसूस करता था, यह १६३४ के मई दिवस पर लिखे गये उसके लेख से मालूम होता है। उसमें उसने बुद्धिजीवियों को मजदूरों के आन्दोलन में अपनी प्रतिभा को तल्लीन कर देने का आह्वान देते हुए लिखा है—"वे हमारे खून और मास हैं, उनकी स्वाधीनता और शक्ति हमारी स्वाधीनता और शक्ति है। वे उस वृक्ष के तने हैं, विज्ञान, साहित्य और कला जिसकी डालियाँ हैं। तना कट गया तो शाखें पनप नहीं सकतीं……… प्रोलेटेरियट! यह मैत्री के लिए बढ़ा हुआ हमारा हाथ है, हम तुम्हारे हैं। हम लोगों के कदम साथ उठने चाहिये, हमारे विभेद खत्म होने चाहिये। मानवता खतरे में है।"

सन् १६२७ में भी जब सोवियट रूस खतरे में था रोमा रोलाँ ने रूस की बहुत बड़ी सहायता की थी। इंगलैण्ड ने पहली बार रूस से सम्बन्ध विच्छेद किया था और रूसी प्रतिनिधियों को निर्ममता से निकाल फेंका था। ईरान के तेल के प्यासे राष्ट्रों का रूस के विरुद्ध षड्यन्त्र धीरे-धीरे रूस के चारों ओर से

जकड़ता जा रहा था, और मास्को के खिलाफ एक भयंकर साम्राज्यवादी गुट तैयार हो गया था। अराजक समाजवादी पत्र मास्को के खिलाफ कस-कसकर लिख रहे थे। ऐसी अवस्था में रोमा रोलाँ ने १८ मई १९२७ को लिखा—

"मैं यूरोप के समस्त स्वाधीन लोगों को चेतवानी देता हूँ कि रूस खतरे में है, और अगर उसे कुचल दिया गया, तो न केवल दुनिया का सर्वहारा वर्ग ही गुलाम हो जायगा, वरन् सारी दुनिया अपनी जंजीरों से कभी भी छुटकारा नहीं पा सकेगी।......रूसी क्रान्ति आधुनिक यूरोप का महानतम सामाजिक प्रयास है। हमें उसकी सहायता के लिए कमर कसकर तैयार हो जाना चाहिये। दुश्मन, साम्राज्यवादी युद्ध, दरवाजे पर है........."

रूस ने रोमा रोलाँ की आवाज में छिपी हुई सच्ची सहानुभूति स्वीकार की। २ सितम्बर सन् १९२७ को रूस में शिक्षा के जन-कमिसर लुनाशर्स्की ने उस अपील का प्रत्युत्तर भेजा—"आपके उत्तर से मालूम पड़ता है कि यथार्थ परिस्थितियों का मूल्यांकन करने में आप उन लोगों से कहीं ज्यादा सुलझे हुए हैं जो हमारे सहायक होने का दम भरते हैं।......जो कुछ आपने लिखा है उसे मैं शत प्रतिशत तो स्वीकार नहीं करता; लेकिन आपके राजनीतिक स्वर में ऊँचाई है उसमें एक प्रांजल नैतिक पवित्रता है।"

लेकिन रूस के प्रति इतनी सहानुभूति रखने पर भी रूस की इतनी सहायता करते हुए भी, रोमा रोलाँ को अपने देश से कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों का कड़ा विरोध और गालियाँ सहनी पड़ी थीं और रूस का समर्थन करते हुए भी वह उन प्रगतिवादी लेखकों में अपनी गिनती नहीं कर पाया जो रूस के पीछे आँख मूँदकर चलते थे। उसने अपना वैयक्तिक विचार-स्वातन्त्र्य किसी के भी हाथ किसी भी मोल पर नहीं बेचा और एक मित्र के तौर पर जब कभी उसने रूसी कम्यूनिस्टों की गलतियाँ देखीं तो उनकी आलोचना भी की। लेकिन रूस ने

उस निष्पक्ष आलोचना का स्वागत किया और रोमा रोलाँ की 'राजनीतिक ऊँचाई और प्रांजल नैतिक पवित्रता' का अभिनन्दन किया, जब कि उसी के देशवासी कम्यूनिस्टों ने उस 'नैतिक पवित्रता' का मूल्य न समझकर रोमा रोलाँ का विरोध किया। मानसिक गुलामी का इससे ज्यादा हास्यास्पद उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता।

विरोध का मुख्य केन्द्रबिन्दु था विचार-स्वातन्त्र्य का प्रश्न। रोमा रोलाँ एक स्वाधीन विचारक बना रहना चाहता था। वह कहता था कि रूस और प्रोलेटेरियट के मित्र होने के नाते जहाँ उसका समर्थन करना हमारा कर्तव्य है, वहीं उसकी आलोचना करना भी हमारा गम्भीर कर्तव्य है। लेकिन मैत्री की तरह सूक्ष्म सहानुभूति, समानाधिकार भावना और ईमानदार आलोचना, सद्भावनापूर्ण विरोध का महत्व, उनको समझ में नहीं आ पाता था, जो रूस के मित्र नहीं वरन् 'दिमागी जी हुजूर' थे, और इसी कारण तत्कालीन एक कम्यूनिस्ट लेखक (जिसका नाम भी आज अतल में विलीन हो चुका है) ने बड़ी गन्दी आरोपपूर्ण लेख शृंखला रोलाँ के खिलाफ लिखी। रोलाँ ने उसका जो उत्तर दिया वह विश्व के स्वाधीन विचारशील, सच्चे अर्थों में प्रगतिवादी लेखकों के लिए अभिमान की वस्तु रहेगी।

पहले हम देखेंगे कि इस प्रतिद्वंद्विता का सूत्रपात कैसे हुआ? जैसा रोलाँ ने खुद बाद में लिखा—"मैं कभी भी उस तानाशाही और सैद्धान्तिक संकीर्णता की निन्दा करने में नहीं हिचका जिसका आधिपत्य रूसी क्रान्ति में देखकर मुझे दुख होता था।" यही नहीं वास्तव में रोलाँ कभी भी उस मार्क्सवादी भौतिकवाद में विश्वास नहीं कर पाया था, जिसमें कि आध्यात्मिक साधना का कोई महत्व नहीं है। हमेशा से उसकी प्रतिभा एक उच्च आध्यात्मिक सन्देश की प्यास से व्याकुल होकर, जिन्दगी की पर्तों को चीरकर परिस्थितियों से लड़ती आई थी। वह आत्मा को, विवेक को, विचारों को ही मुक्ति का साधन मानता था।

और बाह्य परिस्थितियों का कोई भी परिवर्तन, कोई भी भौतिक क्रान्ति, जो मानव की आत्मा में नया निखार नहीं लाती, जो आदमी की आत्मा पर नई किरनों के फूल नहीं बिखेरती, जो सितारों की पवित्रता को आदमी के प्राणों पर नहीं उतार सकती, उस क्रान्ति का रोमा रोलाँ के सामने कोई महत्व नहीं था।

यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो यह मुख्य तत्त्व था, जिसके कारण ऊपर से देखने पर रूस का पूर्ण समर्थन करने वाले रोमा रोलाँ और कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी लेखकों में कोई अन्तर नहीं मालूम देता था, परन्तु अन्दर ही अन्दर दोनों में जमीन आस्मान का अन्तर था। जहाँ कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी, रूस और रूसी क्रान्ति के अन्धानुयायी मानसिक गुलाम थे, वहाँ रोमा रोलाँ एक सन्त योद्धा था, एक गम्भीर विचारक और मानवता का महान पैगम्बर था जिसकी कलम से आध्यात्मिक सत्यों के पारिजात झरते थे। उसके और कम्यूनिस्टों के दृष्टिकोण में दो ध्रुवों की दूरी थी। वह रूस, क्रान्ति, कला किसी का भी समर्थन तभी कर सकता था यदि वह मानवता के लिए हो, मानवता की हित-साधना के लिए हो, किन्तु कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी के लिए रूस और रूसी क्रान्ति ही सर्वप्रमुख थी, उसके बाहर मानव जीवन के महान आध्यात्मिक सत्यों के लिए कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी की कला और विचारधारा में कोई भी स्थान नहीं था।

रोमा रोलाँ ने कभी मानवता के सामने कम्यूनिस्ट रूस को तरजीह नहीं दी। उसने दोनों का सापेक्ष मूल्य अच्छी तरह से पहचाना था। उसने स्वयं लिखा है—

"१६१६ के बाद—मैंने केवल क्रान्ति की देवी की पूजा करने के लिए उन देवियों का मन्दिर नहीं छोड़ दिया जिन्होंने अभी तक मुझे साँसों का वरदान दे रक्खा था। वे देवियाँ थीं मानवता और स्वाधीनता की देवियाँ! कोलास ब्रूगों ने कहा था—'एक ही देवता—बस इतने से तो मेरी पूजा पूर्ण न होगी!' मैं भी क्रान्ति के खीमे के बगल

में ही मानवता और स्वाधीनता का खीमा गाड़ने के लिए सन्नद्ध था। मानवता और स्वाधीनता को बड़ी कठिनाई से महायुद्ध की गोलियों से बचाया जा सका था और उन घायल और मरणासन्न सत्यों को मैं पुनः स्थापित करना चाहता था—और आज भी इतिहास यह बतलाता है कि मैं गलती पर नहीं था!"

ज्यों-ज्यों समय बीतता गया रोमा रोलाँ ने अनुभव किया कि रूस के क्रान्तिकारी धीरे-धीरे सैद्धान्तिक संकीर्णता में उलझते जा रहे हैं। वे विचार-स्वाधीनता की अवहेलना कर रहे हैं और धीरे-धीरे स्वयं रूसी क्रान्ति एक प्रतिक्रियावाद का संकीर्ण पथ ग्रहण करती जा रही है। रोलाँ ने अनुभव किया कि इस समय विचार स्वातन्त्र्य का नारा बुलन्द करने की जरूरत है और मानवता का तकाजा है कि इस तरह की बौद्धिक तानाशाही की पूरी खिलाफत की जाय। स्वयं रोलाँ के शब्दों में—"१६२१-२२ में इस महान हिंसात्मक मानसिक गुलामी के विरुद्ध मैंने एक अथक लड़ाई छेड़ रक्खी थी। उस समय सभी लोग ऐसे मानसिक उन्माद में फँसे थे कि हिंसात्मक संकीर्णता को न केवल आपद्धर्म मानते थे, वरन् उसे जीवन का ध्रुव शाश्वत सत्य घोषित करने में भी नहीं हिचकते थे। मेरा यह विद्रोह इसलिए और भी तीखा हो गया कि बोल्शेविक दमन और अत्याचार के प्रति स्वाधीन क्रान्तिकारियों का करुणा भरा स्वर वातावरण में भर उठा था। मेरे बहुत विश्वस्त मित्र रूस से लौटकर वहाँ का जो हाल बतलाते थे, उससे मन में बहुत तैश आता था। स्वयं मैक्सिम गोर्की रूस को छोड़कर चला आया था और उसके पत्रों में बहुत कड़वी और उदास निराशा सिसक उठती थी। मैंने विचार-स्वातन्त्र्य का झण्डा और भी मजबूती से फहराने का निश्चय किया........मैंने जनता और अपने साथी लेखकों के सामने एक ज्वलन्त प्रश्न रक्खा—क्या उनका विश्वास है कि आधुनिक बुद्धिजीवी क्रान्ति के शस्त्रागार में अपना शरीर और अपनी आत्मा दोनों ही समर्पित कर आवे, या

अपने मन का सन्तुलन कायम रखते हुए, क्रान्ति का समर्थन करते हुए भी मानवता के प्यार को अपना लक्ष्य माने। अगर क्रान्ति स्वाधीनता की हत्या करती है तो क्रान्ति का भी विरोध होना चाहिये। अगर क्रान्ति मनुष्य की प्रतिभा को जंजीरों में जकड़ लेती है तो फिर क्रान्ति नव-जीवन की सन्देश-वाहिका न बनकर, केवल एक नये ढंग की प्रतिक्रिया बनकर रह जाती है।" रोमा रोलाँ तो कम्यूनिस्टों की संकीर्णता से बहुत ऊब गया था। रोमा रोलाँ के सामने जितना महान् उद्देश्य था उसको वे मानसिक गुलाम समझ ही नहीं सकते थे। रोमा रोलाँ युग के संघर्ष के घात-प्रतिघातों में से आदमी को आत्मा का सर्वथा नये साँचे में निर्माण करना चाहता था। वह चाहता था कि आदमी की आत्मा अपनी प्रतिभा के पंख पसारकर आकाश में उन्मुक्त विहार कर सके और ऊँचाइयों पर मँड़राती हुई, चाँद सितारों को छू ले। वह केवल धरती से नहीं बँधना चाहता था। आदमी महज मिट्टी नहीं है, उसकी नसों में कल्पना की सुनहरी धूप भी लहराती है। रोलाँ चाहता था कि वाह्य और अन्तर का, यथार्थ और अध्यात्म का यह पूर्ण समन्वय हो सके—इसके लिए आवश्यक था कि कलाकार की प्रतिभा को उड़ने के लिए उन्मुक्त आकाश दिया जाय, उसे पींजरों में कैद न किया जाय चाहे वह पींजरा सोने का हो. चाहे हँसिया हथौड़े का!—"मेरा विश्वास है," उसने लिखा "रूसी क्रान्ति की सबसे महान् भूल यह होगी अगर वह विचार की स्वाधीनता के विरुद्ध संघर्ष करेगी। स्वाधीनता मानव-स्वभाव की अनिवार्य प्रवृत्ति है, और सृष्टि के आदि दिवस से मानव की प्रगति की मूल प्रेरणा रही है।"

लेकिन कम्यूस्निटों से मानवता और प्रतिभा से क्या ताल्लुक? वे लोग तो अपने पार्टी प्रोपेगैण्डा में लगे हुए थे। और जब उन्होंने रोलाँ को चारों ओर से बहुत कसना शुरू किया तो रोलाँ ने उन्हें फटकार दिया—उसने शान से कहा—"मैं प्रोलेटेरियट के साथ हूँ

अगर वे मानवता और सत्य का आदर करते हैं, अगर वे मानवता और सत्य की हत्या करते हैं तो मैं उनके भी खिलाफ लड़ने में नहीं हिचकूँगा ....मैं प्रोलेटेरियट प्रगति के साथ हूँ मगर मैं अपनी आँखों पर पट्टी बाँधकर और अपनी जुबान पर ताला डालकर नहीं आया हूँ। मेरा अधिकार है कि मैं उसकी गलतियों की आलोचना और उसकी हिंसात्मक संकीर्णता की निन्दा करूँ। मैं चाहता हूँ प्रोलेटेरियट आन्दोलन के नेताओं में नैतिक अनुशासन और मानव स्वतन्त्रता के प्रति सहिष्णु श्रद्धा हो।" (१० मार्च ला ह्यूमेनिते)

जब कम्यूनिस्टों ने देखा कि रोमा रोलाँ उनके बैण्ड-दल में शामिल होकर ढोल नहीं बजाता और पैगम्बरी की बातें करता है तो उन्हें काफी तैश आया और अन्त में उनका चक्र घूमा। हेनरी बारबस ने दिसम्बर १६२१ में एक लेख लिखा—"कर्तव्य का दूसरा पहलू, रोलाँवाद के सम्बन्ध में!" उसमें बारबस ने रोलाँ की निन्दा मुख्यतया इस आधार पर की थी, कि रोलाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अटल सामाजिक नियम को स्वीकार न कर रहस्यवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की बात करता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तो महज पलायनवाद और परिस्थितियों से भय का दूसरा नाम है। जिसमें समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना नहीं होती, वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता की बातें करता है। रोलाँ में एक अजीब किस्म का निराशावाद है और कुछ असम्भव सी बातें करता है। रोलाँ का कहना है कि क्रान्तिकारियों को हिंसात्मक संकीर्णता नहीं अपनानी चाहिए, और स्वतन्त्रता और अहिंसा का समता से और भौतिकता का अध्यात्मिकता से समन्वय होना चाहिए। यह बात बारबस के समझ में ही नहीं आती थी और चूँकि रोलाँ के विचार कुछ स्वतन्त्र से होते जा रहे थे अतः बारबस की राय में रोलाँ ने प्रगतिवादी दल छोड़ दिया था। वह अलग होकर, निरपेक्ष और तटस्थ होकर हाथीदाँत की मीनार में जा बैठा है, जनता के दुखदर्द से दूर—

रोमा रोलाँ ने बड़े साहस और धैर्य से इस कायरतापूर्ण आरोप का मुकाबिला किया और बारबस को उसके आरोपों के उत्तर दिये। उसमें रोलाँ ने लिखा—"जिसने मेरी कोई भी किताब पढ़ी है वह बता सकता है कि मेरा स्वर एक तटस्थ पलायनवादी का स्वर है या ऐसे आदमी का जिसने अपनी छाती पर जिन्दगी के घाव झेले हैं और उन्हें मिटाने की कोशिश कर रहा है।......

"तुमने लिखा है कि समाज की प्रगति तो रेखागणित की तरह निश्चित है, लेकिन मुझे तुम्हारे इस सामाजिक रेखागणित के सिद्धान्त पर हँसी आती है। मैं उसके काल्पनिक नियमों को अटल नहीं स्वीकार करता और मैं उसके सामने सर नहीं झुका सकता, क्योंकि जहाँ उक्त सिद्धान्त का प्रश्न है, सिद्धान्तों में यह मार्क्सिस्ट सिद्धान्त मानव की सच्ची प्रगति की बहुत कम व्याख्या कर पाता है।

"जहाँ सिद्धान्त के अलावा मार्क्सवाद को कार्यरूप में भी परिणत किया गया है, वहाँ इसमें शोचनीय और भयंकर भूलें तो हुई ही हैं, साथ ही नई व्यवस्था के नेताओं ने जानबूझ कर उच्चतम नैतिक आदर्शों को जिबह किया है। वे आदर्श थे, स्वाधीनता, मानवता और सबसे बढ़कर सत्य ! मैं एक झूठ को दूसरे झूठ से बचने के लिए ग्रहण करना उचित नहीं समझता। फौजी शासन, पुलिस का आतंक और पाशविक हिंसा महज इसीलिए उचित नहीं है कि वह कम्यूनिस्ट पार्टी के शासन की स्थापना के लिए किया जाता है।

"फिर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि हम कम्यूनिज्म की सच्ची सेवा उसकी हर सही गलत तरीके से रक्षा करके नहीं, वरन् स्पष्टता और सचाई से उसकी आलोचना करके ही कर सकते हैं। कम्यूनिस्टो, स्वतन्त्र विचारक बनाना सीखो ! अपने निर्माण में कमजोरी ढूँढ कर उसे निरन्तर सुधारने का प्रयास करते चलो।

"फिर जो आदमी स्वतन्त्र विचार करने का आदी है, उसके लिए यह एक अधिकार ही नहीं, एक कर्तव्य भी है। वह विचार ही क्या जो किसी पूर्व निर्धारित मत को आँख मूँदकर स्वीकार कर ले और अपने नाम को ही निरर्थक कर दे। तब तो वह अन्धविश्वास बन जाता है। धार्मिक अन्धविश्वास, जातीय अन्धविश्वास और उसी दर्जे का पार्टी अन्धविश्वास ! एक विचारशील आदमी के सामने सवाल दूसरा रहता है—वह जो अनुभव करता है उसे कहे, या कुछ और कहे। अगर वह और कुछ भी कहे तो वह उसका विचार नहीं रहेगा और इसलिए सत्य नहीं होगा। अगर कम्यूनिस्ट आन्दोलन अपने ढंग से मानवता की सेवा करता है तो विचार स्वातन्त्र्य भी अपने ढंग से कम सेवा नहीं करता !

"तुम कहते हो मेरी रचनाओं में कभी-कभी निराशावाद होता है। मित्र, वह आदमी जो यथार्थ और यथार्थ की गम्भीर परिस्थिति का अनुभव करता है, उसी के स्वर में निराशा होती है। वैसे एक हल्का निस्सार आशावाद उसमें भी होता है जो परिस्थितियों में गहरे पैठ नहीं पाता (लेकिन मेरे एक क्रान्तिकारी मित्र, तुम्हारे परिचित, उनकी आँख में भी मैं आँसू देख चुका हूँ)

"लेकिन बारबस, मैं निराशावादी नहीं हूँ। मैं जानता हूँ कि पेरिस एक दिन में नहीं बना था, न मानवता की मंजिल एक दिन में मिल सकती है। लेकिन वह मिलेगी चाहे युगों बाद मिले, मुझे इसका विश्वास है और मैं प्रतिदिन, बिना निराश हुए उसके लिए अथक परिश्रम करता रहता हूँ।

"मैं प्रगति और विकास का हामी हूँ, प्रोलेटेरियट के संघर्ष का एक ईमानदार सिपाही हूँ, लेकिन कई विषयों में रूस से मेरा गहन मतभेद है। मसलन मैं उस अप्रजातान्त्रिक हिंसात्मक तरीके से नफरत करता हूँ जिसका उपयोग वहाँ जनमत को दबाने के लिए किया जाता है। जेनेवा सम्मेलन के बाद जिस तरह रूस में उन लोगों की

दुर्दशा की गई जो पार्टी से मतभेद रखते थे, वह शायद कम्यूनिस्टों के लिए सब से नुकसानदेह वस्तु रही है। वे लोग अपराधी थे या नहीं यह मैं नहीं कहता। हरेक राजनीतिक दल अब झूठ बोलने में इतना चतुर हो गया है कि किसी बात पर आसानी से विश्वास नहीं जमता। लेकिन इन बातों से एक चिन्ता और शंका जरूर पैदा हो गई है, और कम्यूनिस्ट विरोधियों को प्रचार करने का इतना अच्छा मौका मिल गया है, और उन्होंने उसका इतना उपयोग किया है कि अपनी कम्यूनिस्ट सहानुभूति के बावजूद प्रतिभाशाली अनातोल फ्रान्स ने रूस को एक निन्दात्मक तार भेजा है।

"तुम इसे हिंसा की अत्यावश्यक सामयिक नीति कहते हो! इसके हामी कहते हैं कि इसकी विरोधी भावना 'पेटी बोर्जुआ भावुकता' मात्र है। नाम कुछ भी दो, पेटी बोर्जुआ या और कुछ! लेकिन यह सहानुभूतिपूर्ण भावुकता दुनिया के इतिहास की महान् क्रियात्मक शक्ति रही है, और रहेगी। और यह बुद्धिमानी नहीं कि रूसी क्रान्तिकारी जान-बूझकर ऐसे काम करते रहें कि दुनिया में उनके प्रति सहानुभूति के बजाय सन्देह और शंका पैदा होती रहे। तुमने विचार स्वातन्त्र्य का स्वागत पिस्तौल की गोलियों से किया है और नतीजा यह हुआ है कि दुनिया के महानतम उदार विचारक, जार्ज ब्राण्ड, बर्ट्रण्ड रसल, अनातोल फ्रान्स धीरे-धीरे उनके उसी तरह विरोधी होते जा रहे हैं जैसे कोलरिज, वर्ड्स्वर्थ और शिलर फ्रांसीसी क्रान्ति के विरोधी हो गए थे। तुम अपनी संकीर्णतावश चाहे इन लोगों का महत्व न समझो लेकिन इन्हें खोकर तुम इनके अनुयायियों की, जनता की कितनी बड़ी संख्या खो रहे हो, इसका तुम अन्दाज नहीं कर सकते। और कहते तुम यह हो कि तुम जनता को प्यार करते हो। इसी वजह से फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति का पतन हुआ था। रूसी क्रान्ति से कह दो कि वह जरा होशियार रहे! जो मानव-हृदय के महान् तूफानों का मूल्य नहीं समझता वह धोखा खाता है।

"मेरे दोस्त बारबस ! हम सबों का आम दुश्मन एक है, वह है, वह सर्वव्यापी हिंसा जो मानव-समाज को जकड़े हुए है। तुम उस हिंसा के खिलाफ दूसरी संकीर्ण हिंसा का प्रयोग करना चाहते हो। लेकिन याद रक्खो इसका अन्त सिर्फ एक ही होगा—हम सबों का पूर्णतम भौतिक और आध्यात्मिक विनाश।

"लेकिन एक तरीका और है, ज़्यादा ताकतवर, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, दोनों तरह के लोगों के लिए एक समान ! एक दूसरे देश की जनता इसका सफल प्रयोग कर चुकी है और ताज्जुब है कि फ्रान्स में उसका जिक्र भी नहीं होता। यह वह तरीका है जिसे हजारों जागरूक असहयोगी अपने अँग्रेज शासकों के विरुद्ध काम में ला रहे हैं, वह तरीका जिससे गांधी जी भारत में अँग्रेजी हुकूमत की नींव हिलाए दे रहे हैं ! मैं उसको निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं कहूँगा क्योंकि वह सत्याग्रह प्रतिरोध का सब से ऊँचा और महान् तरीका है।

"अत्याचारी हुकूमत को अपना किसी भी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर देना शायद हमारे युग में साहस और बहादुरी की पराकाष्ठा है। सामने एक विशाल साम्राज्य की प्रलयंकरी ताकत है जो एक आदमी के सीने पर हजारों तोपें लगा सकती है, जो जेल के दरवाजों के पीछे अपने ठण्डे और खूँखार पंजों से आदमी का दम घोंट सकती है, लेकिन एक अकेला व्यक्ति निहत्था और निस्सहाय उस साम्राज्य के विरुद्ध सीना तानकर बहादुरी से खड़ा है ! इसके लिए एक महान् शक्ति की जरूरत है, एक ऐसी महान् बलिदान की ताकत जो तुम्हारी जैसी किसी भी सामूहिक हिंसा में नहीं मिल सकती। इस प्रकार की नैतिक शक्ति असम्भव है, सर्वथा असम्भव, जब तक कि वह मनुष्य के 'हृदय' में न जगे, प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में : वह अन्तःकरण की आग, उस ईश्वर की रहस्यवादी चेतना जो हर व्यक्ति के हृदय में है और जिसने इतिहास की नाजुक घड़ियों में सीधा रास्ता दिखाकर महान् राष्ट्रों को सितारों की ऊँचाई तक उठा दिया है।

"मैं बिलकुल तुम्हारी तरह नहीं सोचता, लेकिन तुम्हें क्या हक है कि तुम यह फरमान जारी कर दो कि जो तुम्हारे विचारों से हरफ-ब-हरफ मेल नहीं खाता, वह क्रान्ति के बाहर है ? क्रान्ति और प्रगति किसी एक पार्टी की बपौती नहीं है। क्रान्ति के महान् ध्वज की छाँह में वे सभी सिपाही खड़े हो सकते हैं जो एक बेहतर और ज्यादा सुखी मानवता के सपनों में डूबे हुए हैं। वही सपना मेरी भी आत्मा में पल रहा है। लेकिन मैं उस आधीनता के वातावरण में नहीं रहना चाहता जहाँ बोर्जुआ और कम्यूनिस्ट दोनों ही अपना-अपना ढोल कलाकार के गले में बाँधने के लिए सन्नद्ध हैं। इसीलिए मैं अपनी प्रतिभा के वातायन उन्मुक्त रखता हूँ। अगर मेरी साँस घुटती है तो मैं अपनी खिड़की के शीशे भी चूर-चूर कर देने में नहीं पीछे हटूँगा। हम लोगों का दावा है कि हम क्रान्ति और प्रगति के साथ रहेंगे, लेकिन आजाद मानव बनकर रहेंगे।

"अगर तुम स्वतन्त्रता की इस प्यास में महज बोर्जुआ स्वार्थ और वैयक्तिक स्वार्थ ही देखते हो तो मैं कहूँगा कि तुम्हारी आँखों पर इस अधकचरे मार्क्सवाद ने पट्टी बाँध दी है। विचार-स्वातन्त्र्य और वैयक्तिक स्वाधीनता हमेशा से जिन्दगी को आगे बढ़ानेवाली ताकत रही है। अगर तुम उसका विरोध करते हो तो निस्सन्देह तुम्हें उनका समर्थन मिलेगा जिनकी प्रतिभा दिखावटी है, जिनमें कोई नैतिक ईमानदारी नहीं जो केवल यश और प्रतिभा के प्यासे हैं और हर गुदड़ी बाजार में मिलनेवाली कायरता से जिनकी आत्मा का गठन हुआ है। लेकिन जो सचमुच विचारशील हैं, प्रतिभाशाली हैं वे तुम्हारे विरोधी होंगे, जरूरत पड़ेगी तो वे शहीद भी होंगे। लेकिन याद रक्खो उनकी शहादत से उनके दमन से, उन पर किये गए अत्याचारों से एक नया विश्वास उठेगा। ठहरो ! सोचो ! इस आग से मत खेलो कम्यूनिस्टो, यह आग तुम्हें खा जायगी !"

रोमा रोलाँ का दर्द और आग के अक्षरों में लिखा गया यह पत्र

मानव-साहित्य की तवारीख में अमर रहेगा। रोमा रोलाँ के मन में आदमी के लिए सच्चा दर्द था, पूँजीवादी व्यवस्था जिस तरह आदमी को धीरे-धीरे निःसत्व कर देती है, कर रही थी, जिस तरह आदमी के आँखों की रोशनी बुझ गई थी और मानव-संस्कृति एक प्रेतच्छाया की तरह युद्ध-ध्वस्त धरती पर, मुर्दों के सीनों को कुचलती हुई अँधेरे में भटक रही थी, आसमान से खून और हड्डियाँ बरस रही थीं और जमीन पर मुर्दों की कराह सिसक रही थी, और रोशनी की किरनों में अमृत नहीं रह गया था, वह जहरीली नागिनें बनकर आग उगल रही थीं—ऐसी परिस्थिति में रोमा रोलाँ भटक गया था, उसे रूसी क्रान्ति से थोड़ा सहारा और भरोसा मिला, लेकिन जब उसने देखा कि उस पर भी खून सवार होता जा रहा है, वह भी तानाशाही का स्वर अपना रही है तो उसे बहुत निराशा हुई। स्वदेशी कम्यूनिस्ट "दिखावटी प्रतिभावाले, नैतिक ईमानदारी से शून्य, यश और प्रतिष्ठा के लालची और जिनकी आत्मा में गुदड़ी बाजार की कायरता का भूसा" भरा हुआ था। (दुर्भाग्य से अधिकतर देशों के स्थानीय कम्यूनिस्ट विचारक ऐसे ही होते हैं, महान् सोवियट कम्यूनिज्म के माथे पर गन्दे कलंक।)

रोमा रोलाँ को उस महान् संक्रान्ति-काल में कोई भी रास्ता नजर नहीं आ रहा था। अगर कम्यूनिज्म ने भी तानाशाही का रुख अख्तियार कर लिया तो वह भी महज एक प्रतिक्रियावाद बन कर रह जायगी। क्रान्तिकारी कम्यूनिस्ट अब केवल संकीर्ण सिद्धान्तवादी और हिंसात्मक तानाशाह बनते जा रहे थे। ऐसा लगता था कि इस प्रयोग में भी अब एक एकांगिता आती जा रही थी।

उसी समय महात्मा गांधी ने भारतीय राष्ट्र का संगठन कर अहिंसात्मक सत्याग्रह का आह्वान दिया। गांधीवाद कोई नया वाद नहीं था। भारतीय संस्कृति की महान् परम्परा में जो कुछ भी महानतम सत्य है उसका सार और नई परिस्थितियों के आधार पर

उनकी नई, सशक्त और क्रियात्मक व्याख्या ही गांधीवाद था। रोमां रोलाँ को इस भारतीय जीवन-दर्शन में उन सभी अभावों का निराकरण मिला, उन सभी समस्याओं का समाधान मिला जो उसकी आत्मा में दीमक की तरह लग गए थे और जिन्हें कम्यूनिज्म हल नहीं कर पाया था।

स्वयं रोमां रोलाँ ने लिखा है— "वह महान् प्रभाव जिसने मेरी आत्मा को उन दिनों आच्छादित कर लिया था, वह था महात्मा गांधी का प्रभाव··· टैगोर की मित्रता, सर जगदीश बोस की मित्रता कालिदास नाग और लाला लाजपतराय से मुलाकातें, भारतीय मित्रों से पत्र-व्यवहार और बंगाल की भारतीय राष्ट्रीय पत्रिकाओं का अध्ययन, इन सबों से धीरे-धीरे मेरे सामने भारत की आत्मा का महान् रहस्य खुलता जा रहा था।

"लेकिन फिर भी रूसी क्रान्ति का महत्व मेरे सामने स्पष्ट था। जिस महान् कार्य में रूस के लोग लगे हुए थे मैं उसका महत्व समझता था। मैंने आग का पानी के साथ समझौता कराना चाहा, मास्को की प्रतिभा से भारत की आत्मा का समन्वय कराना चाहा··· किन्तु मैं असफल हुआ!"

जहाँ एक ओर वह समाजवादी से भारत की अहिंसा और वैष्णवता का समन्वय चाहता था, वहीं रोमां रोलाँ फ्रान्सीसी क्रान्ति की व्यक्ति-स्वतन्त्रता का भी समन्वय समाजवाद से करना चाहता था। उससे कई वर्ष बाद मार्च १६३१ में मास्को के 'लितराती उइनाया गजेटा' में फेडोर ग्लैडकाव और ईलिया स्लेविन्स्की के नाम एक खुले पत्र में लिखा था— "तुम समझ नहीं पाते कि मैं व्यक्तिवादी हूँ और फिर भी कहता हूँ कि मानवता को प्यार करता हूँ।...मेरे दोस्तो, यह सच है। मैं व्यक्तिवादी हूँ, मैं मानवतावादी हूँ और यह व्यक्तिवादी, यह मानवतावादी तुम्हारे लिए लड़ रहा है।···

"तुम ईलिया स्लेविंस्की, कहते हो कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता कभी

नहीं रही। परिस्थितियाँ, समाज हमेशा हावी रहा, बुद्धिजीवी कभी स्वतन्त्र नहीं रहा।" लेकिन मेरा खुद जीवन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। मैं जो कुछ हूँ, मैंने जिस लक्ष्य को उठाया, जिस दिशा को प्यार किया, यह दुनिया उस सब की दुश्मन थी, लेकिन उसमें भी मैं आजाद रहा, हमेशा आजाद रहा। जो अपनी आत्मा की आजादी के लिए सब कुछ होम कर देने को तैयार है, उसकी आत्मा बन्धन में नहीं रह सकती। मैं इस आजादी को बरकरार रक्खूँगा, अपनी मौत तक बरकरार रक्खूँगा।

"तुम मुक्त हो, तुमने एक विनाशकारी व्यवस्था से मुक्ति पा ली है, तुम अपने भाग्य का स्वयं निर्माण कर रहे हो! मैं तुम्हारे खीमे में विचार स्वातन्त्र्य और मानवता की पवित्र ध्वजाएँ स्थापित कर रहा हूँ। उनसे दूर न हटो। उन पर गर्व करो!"

रोमा रोलाँ के इस साहसी रुख का रूस के महान् उदार विचारकों ने समर्थन किया। लुशार्नस्की के पत्र का उद्धरण हम पहले ही दे चुके हैं। गोर्की ने भी सेण्ट ब्लेरियन से रोमा रोलाँ को लिखा, (पत्र रशियन में थे, उसका फ्रान्सीसी अनुवाद आर० एब्रेमाफ़ू ने किया था)—"बारबस के नाम तुम्हारा पत्र बहुत ही अच्छा है। मुझे बेइन्तहा खुशी है, इस बात पर कि बौद्धिक पक्ष में मैं तुमसे पूर्णतया सहमत हूँ। तुम्हारे विचार जो मेरे लिए अमूल्य हैं, जिन्हें मैं प्यार करता हूँ, उन्हें मैं बराबर पिछले कई वर्षों से अपने देशवासियों के सामने रखता आया हूँ।......हमको चाहिए कि हम अपनी ही विचारधारा के कुछ अन्य लोगों को ढूँढें, और सम्भव है कि हम लोग एक साथ मिलकर अपने विरोधियों को यह समझा सकें कि अपनी आलोचना उनके लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी हमारे लिए!"

गोर्की महान् साहित्यिक था। उसके सामने पार्टी के बजाय मानवता का महत्व ज्यादा था, इसीलिए उसने रोमा रोलाँ को समझा। लेकिन फ्रान्स के कम्यूनिस्ट लेखक गुटबाजी और दलबन्दी के उपासक थे

और इसलिए उन्होंने रोलाँ के विरुद्ध उन नीच हथकण्डों का आश्रय लिया, जो हर देश के कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी अपनाते हैं। रोलाँ स्वयं लिखता है—"हम लोग अपने को स्वाधीन कहते थे, इस संज्ञा का वास्तविक अर्थ न समझकर कम्यूनिस्टों ने अपने प्रचार में हमें जिस तरह बदनाम करना शुरू किया, उससे मेरे स्वर में धीरे-धीरे एक तीखी कड़ुआहट आ गई। मैं बराबर इस बात के लिए सचेत रहता था कि वे मेरे नाम का किस तरह दुरुपयोग कर रहे हैं। अपने प्रकाशनों में, अपीलों में, वक्तव्यों में वे मेरे विचारों पर गलत रंग चढ़ाकर रखते थे और मुझे कभी भी सूचना तक नहीं देते थे। जिन दिनों, मार्च १६२७ में, मैं स्विटजरलैण्ड में था, मुझे बिना बताये, वे इस सीमा तक नीचता पर उतारू हो गए कि एक स्विटजरलैण्ड विरोधी लेख का उत्तरदायित्व झूठ-मूठ के लिए मुझ पर थोप दिया।"

इस तरह से नीच प्रतिहिंसापूर्ण हथकण्डों से हिन्दोस्तानवाले भी अपरिचित नहीं हैं। भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ से शिवदानसिंह चौहान का निर्वासन और अब उन्हें बदनाम करने का "व्हिस्परिंग कैम्पेन" सभी जानते हैं, पन्तजी पर भी कम्यूनिस्ट प्रगतिवादी अब रह-रहकर कीचड़ उछालते रहते हैं। राहुलजी की घटना तो सबसे ज्यादा दुखद रही है। उस महान् व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य का उचित सम्मान करने के बजाय, उसके सहयोग से किसी महान् रचनात्मक दिशा में बढ़ने के बजाय कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों ने राहुलजी की निन्दा का 'सांस्कृतिक मोर्चा' ही खोल दिया है। यह इन मानसिक गुलामों की आन्तरिक खीज का एक अच्छा खासा हास्यास्पद रूप है।

इस प्रवृत्ति के सब से अन्तिम शिकार हैं श्री रांगेय राघव जो कल तक कम्यूनिस्ट लेखकों में अग्रणी माने जाते थे। मई के हंस में डा० रामविलास शर्मा ने उनकी छायावादी प्रवृत्तियों से नाराज होकर उनकी धज्जी उड़ा डाली है।

रोलाँ को भी इसका मुकाबला करना पड़ा। इन संकीर्ण कम्यूनिस्ट प्रगतिवादियों का विरोध करते हुए भी उसने रूसी क्रान्ति और महान् समाजवादी प्रयोग के विरुद्ध अपने मन में किसी प्रकार की अनुदारता नहीं आने दी, और मानवता के प्रति प्यार की जो अखण्ड ज्योति उसकी प्रतिभा के आँचल में झिलमिला रही थी, उसे उसने कहीं से भी मलिन नहीं होने दिया। वह कम्यूनिस्ट संकीर्णता का विरोध करेगा लेकिन प्रतिक्रियावादी नहीं बनेगा, क्रान्ति का रास्ता नहीं छोड़ेगा। मानवता का प्यार नहीं भूलेगा, वह जिन्दगी के संघर्ष के सामने हथियार नहीं रक्खेगा, वह आगे बढ़ेगा चाहे कल के क्रान्तिकारी भी आज उसका साथ छोड़ दें, चाहें दुनिया में वह बिलकुल अकेला हो, लेकिन महान् विद्रोही लेखक के जीवन का मूल मन्त्र होता है—

यदि तोर डाक शुने केउ न आसे
तबे तुमि एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे!

और रोलाँ के जीवन की इस घटना से, इस अन्तर्द्वन्द्व से तुम्हें कुछ सीखना है। क्या हुआ अगर तुम अकेले हो, क्या हुआ अगर रास्ता कठिन है और सभी साथी पीछे थककर बैठ गये हैं, क्या हुआ अगर सामने अँधेरा है? तुम्हें आगे बढ़ना ही है। तुम्हारे पास कलम है, तुम्हें तुम्हारी कलम की कसम है कि तुम हार नहीं मानोगे, तुम जिन क्रान्तिवादी प्रगतिशीलों के लिए दोस्ती का हाथ बढ़ाते हो, अगर वे भी तुम्हारी पीठ में छुरा भोंकते हैं तो भी तुम्हें अपने मन के प्यार को विशृंखल नहीं होने देना है, तुम्हें अपना सन्तुलन नहीं खोना है, तुम्हारे अपने विद्रोह में प्रतिक्रिया नहीं आने देनी है; दुनिया में जहाँ कहीं भी मानवता की प्रगति का महान् प्रयोग हो रहा है, जो कोई भी वह महान प्रयोग कर रहा है, इतिहास के जिस क्षण में भी वह महान् प्रयोग हुआ है तुम्हें उस राष्ट्र, उस व्यक्ति, उस क्षण के सामने श्रद्धानत होना है चाहे वह रूस हो या चीन, फ्रान्स हो या अमेरिका, गांधी हो या लेनिन, गोर्की हो या पन्त, रूसी क्रान्ति हो या

भारतीय असहयोग ! लेकिन अगर कोई भी ताकत है जो तुम्हारी प्रतिभा को कठपुतलियों की तरह डोरा बाँधकर नचाना चाहती है तो तुम मरते दम तक उसका विरोध करोगे, चाहे वह पूँजीवादी तानाशाही हो या कम्यूनिस्ट दलबन्दी। तुम निर्माता हो, तुम्हारी कलम मानवता के विजय का इतिहास लिख रही है—तुम मानसिक गुलाम नहीं बनोगे ! नहीं बनोगे ! नहीं बनोगे !!

तरुण कलाकारों से :

हम, हमारी पीढ़ी मानवता की महान् यात्रा की एक कड़ी हैं। मगर हमने उस वक्त अपनी आँखें खोली हैं, उस वक्त अपने कदम उठाये हैं, उस वक्त अपनी आवाज बुलन्द की है जब पुरानी दुनिया ठीक तौर से मर भी नहीं पाई है और भविष्य के गर्भ में नई दुनिया के ढाँचे पर अभी मांसलता नहीं दौड़ पाई है। अभी नई दुनिया का सपना साकार होने में बहुत देर मालूम पड़ती है। हमारे पीछे वह रोशनी है जो मद्धिम पड़ रही है, हमारे सामने वह सूरज है जो क्षितिज की पर्त को तोड़कर अभी चमक नहीं पाया है। हमारे पीछे एक लम्बी परम्परा है जो आज अपनी ताकत, अपनी जवानी, अपना विकास खो चुकी है, वह संस्कृति है जिसने अपनी आँखें उलट दी हैं, जो उल्टी साँसें ले रही है। हमारे आगे वह दुनिया है जिसकी नींवें खुद चुकी हैं मगर उनके लम्बे गहरे खड्ड प्यासी आँखों से हमारी ओर देख रहे हैं कि हम उनमें ईंटें चुन सकें। हमारे हाथ में कलम है, हमारे मस्तक पर प्रतिभा का प्रकाश है, हमारी साँसों में विद्रोह की तेजी है, हमारी पलकों में निर्माण का सपना है, हमारे हृदय में प्यार का अमृत है।

भविष्य कहता है— अपने साँसों के विद्रोह से प्राचीन को ध्वस्त कर दो। अतीत अपनी बूढ़ी और शान्त, मगर डबडबाई निगाहों से हमारी

ओर देखकर कहता है—भूलो मत मैंने तुम्हें बनाया है, तुम्हें बनाने के लिए मैं मिट गया हूँ। क्या मेरे जीवन-दान का इतना मोल भी नहीं कि तुम अपने प्यार की एक बूँद मुझे दे सको ? मुझे नष्ट कर तुम कौन सा आधार ढूँढोगे अपने कदम टिकाने के लिए ?

युग मिट रहे हैं, युग उठ रहे हैं। स्वर्ग के नन्दन की छाँह में पुराने देवताओं की लाशें पड़ी हैं, और खेतों खलिहानों में, हरियाले कुंजों में नये देवता झाँक रहे हैं। मानव रिक्त भी हो चुका है, युद्ध, अकाल, अनैतिकता, संघर्ष ने उसके जीवन का रस भी चूस लिया है, लेकिन उसके कंकाल उठकर फिर धरती का खून पोंछ-पोंछकर नई पगडण्डियाँ बना रहे हैं। एक इतिहास मर रहा है—दूसरा इतिहास अभी लिखा नहीं गया······मानवता का यह संक्रान्ति-काल है। नक्षत्र एक आकाश से दूसरे आकाश में प्रवेश कर रहे हैं, धरती एक युग से दूसरे युग में प्रवेश कर रही है।

हम संक्रान्ति-काल के कलाकार स्तब्ध हैं। एक ओर अतीत अपने बूढ़े हाथों से हमारी कलम पकड़ता है दूसरी ओर अन्धकार में से अनोखी अजनबी दुनिया की मीठी आवाजें लहराती हुई आ रही हैं। एक कहता है भविष्य केवल झूठी कल्पना है, दूसरा कहता है अतीत एक गुजरी हुई शर्मनाक कहानी है जिसे आदमी भूल जाय तो अच्छा है। हम संक्राति-काल के कलाकार अतीत को नहीं ठुकरा सकते, क्योंकि उसके बिना हम निराधार हैं। हम भविष्य की आवाज अनसुनी नहीं कर सकते क्योंकि वह सत्य की आवाज है, हमारे अस्तित्व की आवाज है। भविष्य और अतीत और सभी बातों में अलग हैं। वे केवल एक बात में एक हैं—वह कलाकार से समानरूप से असन्तुष्ट हैं। कलाकार को दोनों की लांच्छना सहनी पड़ती है। अतीत उस पर प्रगतिवादी होने का दोष लगता है, भविष्य प्रतिक्रियावादी होने का।

लेकिन हमें हमारी कलम, हमारी प्रतिभा, हमारी ईमानदारी की

कसम है कि इन दो भयानक तूफान के पाटों के बीच में पिसकर भी हम अपनी निगाहों को धुँधला नहीं पड़ने देंगे। हम सत्य और कला के गुलाब को पतन और पलायन के कीचड़ में नहीं फेंकेंगे। लाञ्छना, अपमान, आक्रोश हरेक, संक्रान्ति-कालीन कलाकार के भाग्य में होता है।

लेकिन हम यह नहीं भूलेंगे कि संक्रान्ति-काल में पैदा होना कलाकार की सबसे बड़ी परीक्षा है। दुनिया हमें दो युगों के दानवों के बीच में उलझाकर हमारे साहस की परीक्षा लेती है। हम यह नहीं भूल सकते कि जो संक्रान्ति-काल में पैदा होता है उसी के भाग्य में निर्माता बनना लिखा होता है। और जिसके भाग्य में निर्माता बनना लिखा होता है, वही दो युगों के संघर्ष के बीच में से अपने सन्देश को एक पवित्र थाती की तरह सहेज कर, सम्हाल कर ले जाता है। हम कलाकारों का कितना बड़ा भाग्य है कि हम उस वक्त पैदा हुए हैं जब आदमी को हमारी सबसे बड़ी जरूरत है। ध्रुवतारे उसी वक्त उगते हैं जब न दिन पूरी तरह मुँद पाता है, न रात पूरी तरह खिल पाती है।

एक तरफ़ सड़ी गली जर्जर रूढ़ियाँ हमें आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं, दूसरी ओर एक संकीर्ण मतवाद है जो हमारे मंजिल की ऊँचाई छीनना चाहता है। एक ओर रूढ़िवाद है जो प्रगति से घबराता है, दूसरी ओर संकीर्ण प्रगतिवाद है जो प्रगति के नाम पर हमें नई रूढ़ियों में जकड़ना चाहता है। आदमी दो असत्यों के बीच में लुट रहा है। एक पुराना असत्य है, एक नया असत्य! एक ओर कमजोर, कल्पनावादी प्राचीन रूढ़िवाद है, दूसरी ओर संकीर्ण, क्षुद्र भौतिकवाद! दोनों गलती के दो ध्रुवों पर हैं।

हम निराश होते, अगर हम यह समझते होते कि आदमी की गति थम गई है, आदमी के हृदय में अब स्पन्दन नहीं है। लेकिन हम देखते हैं कि सदियों की थकावट के बाद भी आदमी नई जमीनें तोड़

रहा है, नई दिशाएँ खोज रहा है, और कदमों में आकर उलझने वाली संकीर्णताओं के बन्धन से अपने को मुक्त करता चल रहा है। अभी आदमी की निगाहों में तेज़ी है, कदमों में हरकत है, नसों में जिन्दगी है और क्षितिज पर एक सितारा है जो बराबर कह रहा है अभी स्वर्णयुग आने को है!

उसी के भरोसे हम आगे बढ़ते हैं। मानव हमारा देवता है, हमारा उपास्य है, हमारा ईश्वर है! मार्क्स हों या ईसा, लेनिन हों या गांधी, सभी मानवता की जयमाल में गुँथनेवाले गुलाब हैं, और हम हरेक का तबस्सुम, हरेक का सौरभ स्वीकार करने के पक्ष में हैं, मगर किसी की सीमा में बँधना नापसन्द करते हैं। मार्क्स हों या ईसा, दोनों से बड़ा मानव है। उपनिषद हों या कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो, मानव-जीवन का सत्य दोनों से बड़ा है।

मानव-जीवन का सत्य एक किरण है, कला इन्द्रधनुष, जिसमें मूल सत्य अनेक रंगों में खिल उठता है। कहीं वह कल्पना है, कहीं यथार्थ, कहीं ट्रेजेडी, कहीं कामेडी, कहीं आँसू, कही हँसी, कहीं अन्त-र्विरोध, कहीं समन्वय! मानव-जीवन के सत्य को एक शैली, एक रूप, एक सम्प्रदाय, एक मजहब या एक वाद में बाँधना हास्यास्पद है। जब आदमी निर्माण में अपनी भुजाएँ फैलाता है तो यह बन्धन टूट जाते हैं।

लेकिन मानव-जीवन एक स्थिरता नहीं वह एक गतिशील, प्रवहमान सत्य है। युग की सापेक्ष स्थिति में उसे समझना होगा, लेकिन हम यह नहीं भूल सकते कि मानव एक इकाई है, उसे अतीत और वर्तमान में; कालों, या वर्गों की सीमाओं में बाँटना न केवल गलती है, वरन् पाप है। साहित्यकार का कर्तव्य है अतीत और वर्तमान, इस वर्ग और उस वर्ग का विभाजन मिटाकर सहज मानवता के व्यापक सत्य की प्रतिष्ठा करना।

आध्यात्मिक साधना को वैराग्य के भ्रम से हटा कर एक सक्रिय

क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन में बदलना होगा। मार्क्सवाद की संकीर्णता का परिहार कर उसे एक व्यापक राजमार्ग बनाना होगा। जो लोग मानवता के प्रति मार्क्स की महान देन को बिना समझे हुए मार्क्सवाद को गालियाँ देते हैं वे नासमझ हैं; जो लोग मानव-जीवन के उच्च आध्यात्मिक सौन्दर्य के अस्तित्व से इन्कार करते हैं, वे लोग अभागे हैं।

हमें वर्ग-विभाजन, भूख, अभाव, गरीबी के खिलाफ़ लड़ाई लड़नी है, इसलिए नहीं कि अमीरों की थाली की आधी रोटियाँ हम गरीबों सामने जूठन की तरह डाल दें। बल्कि हमें मानवता की आत्मा को भूख और अभाव के पैशाची पंजों से इसलिए छुड़ाना है ताकि वह आध्यात्मिक सौन्दर्य के बादलों तक अपने पंख पसारकर उड़ानें भर सके।

लेकिन हम स्पष्ट कहते हैं कि हम अपनी अनुभूति और अपनी आत्मा के अलावा किसी भी पार्टी का अनुशासन मानने के लिए तैयार नहीं। हमें अपनी आदमीयत पर विश्वास है, हमें अपनी ईमानदारी पर भरोसा है, सत्य के प्रति, मानव के प्रति अपनी पूजा भावना पर यक़ीन है। हम अपना रास्ता खुद ढूँढ़ना पसन्द करेंगे। हम युग के निर्माता हैं, युग के पैगम्बर हैं, युग के चारण नहीं। राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता की प्यासी होती हैं, हम सत्य के प्यासे हैं।

दुनिया की महान् संस्कृतियाँ वह प्रयोग हैं जो मानव जाति के सामूहिक आत्मा ने सत्य की खोज में किये थे। पूँजीवादी संस्कृति आज असफल साबित हुई है। संकीर्ण मार्क्सवाद तो क्रान्ति के बाद स्वयम् रूस में ही दो कदम भी नहीं चल पाया। सोवियट रूस की संस्कृति आज मार्क्सवाद की सीमएँ पार कर गई है। वह एक व्यापक भूमि पर खड़ी है। उसने मार्क्सवाद की नई व्याख्या की है। हम उस व्याख्या से पूर्णतया सहमत न हों लेकिन उसके पीछे एक स्वतन्त्र और महान् राष्ट्र की ईमानदार आत्मा है, इसीलिए वह हमारे देश के

संकीर्ण प्रगतिवाद के मुकाबले में कहीं ज्यादा शक्तिशाली है और सत्य के बहुत समीप है।

मगर आदमी की अन्तर्जगत की जिस साधना की ओर स्टीफेन स्पेण्डर ने संकेत किया है, सोवियट रूस भी जिस ओर बढ़ रहा है, उसका समाधान, मन और आत्मा का वह समाधान उसे मार्क्सवाद में नहीं मिलेगा। वह समाधान उसे कहीं और मिलेगा। वह समाधान उसे भारत में मिलेगा!

हम उस महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं जिसने महान् आध्यात्मिक सत्यों की खोज की थी, जिसने मानव की आत्मा में स्थायी सौन्दर्य के सितारे खिलाने की योजना बनाई थी, जिसने युगों के मन्थन के बाद अध्यात्म का अमृत खोज निकाला था। मार्क्सवादी पद्धति से वाह्य संसार बदल देने के बाद भी आदमी के मन की दुनिया बदलने के लिए हमें कृष्ण की वंशी और कामायनी के मनु का आह्वान करना होगा।

मानव जीवन के आर्थिक पहलू का साम्यवादी पद्धति से निर्माण करने का जो विरोध करता है वह मानवता से विश्वासघात करता है। वह जहरीले पूँजीवाद के हाथ में खेलता है। लेकिन जो केवल आर्थिक साधनों से आदमी की आत्मा को तौलना चाहता है, जो उच्च आध्यात्मिक सौन्दर्य से आदमी को वंचित करना चाहता है वह सत्य से विश्वासघात करता है।

युग केंचुल बदल रहा है। मगर डरने की कोई बात नहीं। कलाकार को हर तरह की संकीर्णता, हर तरह के रूढ़िवाद के प्रति विद्रोह करना है। आज का कलाकार दाँते और गेटे, बाल्ज़क और ह्यूगो, डिकेन्स और शेले, टाल्स्टाय और डास्टावस्की, कबीर और तुलसी का प्रतिनिधि है। विद्रोह और सत्य की वह अग्निशिखा उसे पीढ़ियों से मिली है और अपने को खतरे में डालकर उसे वह अग्निशिखा भविष्य के अन्धकार में स्थापित करनी है।

क्षणिक प्रशंसा या राजनीतिक प्रलोभन जिस कलाकार के कदम डगमगा देते हैं उसकी कला को समय का अजगर निगल जाता है। हमें स्थायी निर्माण करना है। हम हिन्दी के कलाकार हैं। हिन्दी उस महान् जाति की भाषा है जिसका जन्म ही विद्रोह की घड़ियों में हुआ था। हिन्दी उस महान् देश की भाषा है जिसमें ईश्वर को भी मानव बनना बदा था। हिन्दी उस सांस्कृतिक परम्परा की आवाज है जिसकी गोद में महान् सत्य अनादि काल से पलता रहा है, वह सत्य जो बँधा हुआ, गतिरुद्ध सत्य नहीं था, जो प्रवहमान मानवता के साथ सन्तुलन करना जानता था।

सोवियट क्रान्ति ने मानवता को आगे बढ़ाया। भारत में क्रान्ति आनेवाली है वह सर्वतोमुखी होगी। केवल आर्थिक नहीं, वह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति होगी। उस क्रान्ति के बाद आदमी की आत्मा में पूर्णता मुस्करानेवाली है। उस क्रान्ति की भाषा हिन्दी होगी। उस आगे आनेवाले पूर्ण मनुपुत्र की अभिव्यक्ति हमारे साहित्य में होगी।

लेकिन क्या हमने अपनी भाषा, अपने साहित्य को उस महान् भविष्य के लिए तैयार किया है? हम सस्ते प्रचार, गन्दी दलबन्दियाँ, क्षुद्र गुटबाजी और छिछले गाली-गलौज में फँसे हुए हैं। प्रगतिवादी हो या अ-प्रगतिवादी, सत्य को कोई नहीं समझना चाहता। शायद सत्य को समझने का किसी में साहस नहीं, क्योंकि सत्य दोनों की संकीर्णताओं का विरोध करता है।

लेकिन हम तरुण कलाकार हैं। तरुणाई निष्पाप होती है, निष्पक्ष होती है, निष्कलंक होती है। तरुणाई में आग की सुनहरी लपटों की पवित्रता होती है। जिस सत्य को हमारे पूर्वाधिकारी नहीं ग्रहण पाये उसे हम अपनी निगाहों के भोलेपन में समेट लेंगे।

हमारे सामने भ्रम का कोहरा हो, विरोध के काँटे हों, असुविधाएँ हों, सम्भव है कि सुकरात की तरह हमें जहर का प्याला पीना पड़े,

लेकिन हम मरेंगे नहीं। हम उस संस्कृति के राजकुमार हैं जहाँ वरदानी शिव ने जहर पीकर अमरता जीती थी।

हमें मानवता से प्यार है। हमारी निगाहें क्षितिजों की सीमा के परे देखती हैं, हमारे कदमों ने सूर्य से जलन छीन ली है, हमारी साँसों ने आकाश से तूफान छीन लिए हैं, हमारी नसों में जिन्दा सितारे काँप रहे हैं, और बिना डरे हुए सत्य का सम्बल लेकर हमें अकेले बढ़ना है—नये तबस्सुम की ओर जहाँ आदमी की आत्मा पर सत्य का संगीत जगमगाता है!

परिशिष्ट

सोवियट साहित्य में वैयक्तिक चरित्र-चित्रण और मनोविज्ञान

हमने पीछे "क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ?"—नामक अध्याय में यह बतलाया है कि पहले सोवियट कथा-साहित्य में चरित्रों की वैयक्तिकता की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई थी और केवल जनता और जन-भावनाओं को ही उपन्यासों का मूल आधार स्वीकार कर लिया गया था। लेकिन बाद में सोवियट साहित्यकारों ने चरित्रों की वैयक्तिकता का महत्व पहचाना और साथ ही उनके अन्तर्जगत के चित्रण की दिशा में भी उन्होंने अपनी प्रतिभा को मोड़ा। इस सम्बन्ध में हम प्रिश्विन का मत्हवपूर्ण उद्धरण भी दे चुके हैं।

इधर इस विषय में एक और महत्वपूर्ण वक्तव्य आया है। कुछ अंग्रेजी लेखकों ने कुछ प्रश्न सोवियट लेखकों के पास सोसायटी आफ कल्चरल रिलेशन्स के माध्यम से भेजे थे। उसमें से एक प्रश्न था श्रीमती सैसिल चेस्टरटन का, "क्या यह कहना उचित है कि आधुनिक सोवियट उपन्यास मुख्यतया जन-मनोविज्ञान से सम्बद्ध है, या वैयक्तिक मनोविज्ञान की ओर भी झुकाव बढ़ रहा है ?" इसके उत्तर में एक सोवियट लेखक इगोर साट्ज ने जो कुछ कहा वह बहुत महत्वपूर्ण है—"सोवियट साहित्य और विशेषतया सोवियट उपन्यास जन-मनोविज्ञान (मास साइकालाजी) और व्यक्ति मनोविज्ञान के बीच किसी भी अन्तर्विरोध की भावना से सर्वथा अपरिचित है। 'मानव का रूप जनता का ही रूप है, बस' यह विचार तो प्रथम महायुद्ध के बाद अर्न्स्ट टालर तथा अन्य जर्मन अभिव्यक्तिवादियों का था और हमारी राय में वे लोग साम्यवाद, श्रमजीवी वर्ग, जनता और जनता के जीवन

और आदर्श से बहुत दूर थे। सामूहिकता को ही अपने में पूर्ण लक्ष्य मानने के आग्रह और इस विषय पर एक ठोस ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव के ही वातारण में कोई लेखक वैयक्तिकता विहीन जनता स्तुति गा सकता था। आगे चलकर व्यक्ति की उपेक्षा करनेवाले इसी जर्मन अभिव्यक्तिवादियों में से बहुत से लेखक प्रशियन सैनिक समूहवाद और अन्ततोगत्वा नाजीवाद के गीत गाने लगे थे।

इन बोर्जुआ बौद्धिकतावादियों के ठीक उल्टे, सोवियट लेखकों में एक दृढ़ता थी जो जन-जीवन में ही उगी और पनपी थी। वह विश्वविख्यात लेखक मैक्सिम गोर्की कभी इस जन-मनोविज्ञान के नीरस सिद्धान्त की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इसके प्रमाण स्वरूप गोर्की की 'माँ' और 'कोनोवैलोव' कहानियाँ ही काफी हैं।

१९१८ और १९२० में 'प्रोलेटकल्ट' नामक एक छोटा लेखकों का दल था जिसके अगुआ मार्क्सवादी नहीं थे बल्कि अलैक्जेण्डर बोग्दैनव के अनुयायी थे। बोग्दैनव नियो-पाजिटिविस्ट अर्न्स्ट माश का रूसी शिष्य था। माश-वाद के साथ-साथ इस दल ने पच्छिम से फ्यूचरिस्ट और एक्सप्रेशनिस्ट प्रवृत्तियाँ सोवियट भूमि पर फैलाने का प्रयास किया। लेकिन इन्हें सफलता नहीं मिली। कोई भी श्रमजीवी अपने को व्यक्तित्वहीन, जनता का एक अंश मात्र नहीं समझना चाहता था।"

राजनीति और साहित्य

(प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक जे० बी० प्रीस्टले की अध्यक्षता में, एस० सी० आर० नामक संस्था के माध्यम से कुछ अंग्रेज लेखकों ने रूसी लेखकों के पास एक प्रश्नों की सूची भेजी थी। उन प्रश्नों और उनके उत्तरों पर प्रसिद्ध लेखक राबर्ट ह्यूज ने एक वार्ता रेडियो पर दी जिसका सारांश यहाँ दिया जाता है)

"अभी कुछ ही दिन पहले अंग्रेजी लेखकों ने रूसी लेखकों के पास प्रश्नों की एक लम्बी सूची बनाकर भेजी थी। प्रमुख सोवियट लेखकों ने उन पर अपनी कमेटी में विचार-विनिमय किया और हरेक प्रश्न का विस्तृत उत्तर लिख भेजा। यह निश्चित है कि ये ईमानदार उत्तर हैं और उनमें किसी भी अधिकारी का हाथ नहीं है। लेकिन इन उत्तरों से यही मालूम होता है कि रूसी लेखक में और हम लोगों में कितनी गहरी खाई बन चुकी है।

हमारे सभी प्रश्नों के मूल में एक भावना थी—'आखिर आप, रूसी लेखक लोग कैसे यह बर्दाश्त करते हैं कि केवल उन्हीं वस्तुओं पर लिखें जो आपको शासन की ओर से सुझाए जायँ और केवल वे ही विचार व्यक्त करें जो शासन के विचार हों?' और रूसी लेखकों ने जो उत्तर दिए थे उनकी मूल भावना यह थी—'कैसे कोई लेखक दूसरी छोटी-मोटी चीजों पर लिख सकता है जब उसे इतनी महत्वशाली चीजों पर लिखने का पूरा अवसर और सुविधा मिले और कैसे वह कोई अन्य विचार व्यक्त कर सकता है जब कि वह जानता है कि उसके शासक सदा सही सोचते हैं।'

सिवा धर्म के ऐसे विश्वास का उदाहरण और कहीं नहीं मिलता! सोवियट लेखक वास्तव में अपने को मानसिक गुलाम नहीं समझता, क्योंकि उसके लिए प्रचार और साहित्य के बीच में कहीं कोई सीमारेखा है ही नहीं। वास्तव में वह भाग्यशाली है। वह अपनी मनःस्थिति को उस अवस्था में ले गया है जब दुनिया पर मानवता का विकास नहीं हुआ था और आदम और हव्वा अदन के बाग में घूमते थे। लेकिन हम अभागों के मन में प्रचार और साहित्य के बीच में एक रेखा बनी हुई है और वह अन्तर्रेखा हमारे लिए पूर्णतया वास्तविक है। प्रचारकर्ता अपनी जगह पर है, सृजनकर्ता अपनी जगह पर।

उदाहरण के लिए आर्थर केस्टलर* को ही लीजिए। हम सभी उसके बारे में वादविवाद कर चुके होंगे। मैं उसे मुख्यतया एक राजनीतिज्ञ मानता हूँ। उसके कुछ राजनीतिक विचार हैं। वह उनकी ओर पाठकों को प्रेरित करता है। उसके लिए उपन्यास एक साधन मात्र है। जहाँ तक मेरा सवाल है अगर मैं अपने उपन्यास में राजनीति का समावेश करूँ तो मैं दूसरे ढग से करूँगा। मैं राजनीति को साधन बनाऊँ, उपन्यास या साहित्य को साध्य। मैं राजनीतिक घटनाओं का इसलिए प्रयोग करूँगा कि वे रसपरिपाक में सहायक थीं।

यह ठीक है कि राजनीतिज्ञ यह समझ गए हैं कि प्रचार के लिए लेखक की कलम बड़ी ही शक्तिशाली साबित होती है। वे हमेशा लेखक का उपयोग करने के लिए उत्सुक रहते हैं। उनका कहना है कि इस समय कोई भी व्यक्ति राजनीति से भाग नहीं सकता। फिर लेखक ही अपने हाथीदाँत की मीनार में कैसे बैठ सकता है?

मैं समझता हूँ इस दलील का उत्तर भी स्पष्ट है। आप राजनीतिज्ञ से पूछिए—"यह आप कह किससे रहे हैं? जान नामक नागरिक से, या जान नामक लेखक से? यदि जान नागरिक से कह रहे हैं तो ठीक है वह राजनीति में भाग नहीं लेता तो उसकी उत्तरदायित्व-हीनता है, लेकिन जान लेखक; उससे तुम बात करनेवाले कौन हो?"

जो लोग कि गैर राजनीतिक लेखक पर असामाजिक होने का दोष लगाते हैं, या कहते हैं कि उसमें सामाजिक उत्तरदायित्व नहीं है वे क्या कहते हैं यह खुद ही नहीं समझते। कहने की बात दूसरी है, यदि लेखक स्वान्तः सुखाय में ही विश्वास करता तो वह लिखता ही क्यों? अपना सुख-दुख अपने तक ही रखता।

मानव की समस्याओं का समाधान राजनीति ही नहीं है, इस पर

---

*आर्थर केस्टलर एक चेकोस्लोवाकियन लेखक है जिसके राजनीतिक उपन्यासों की पिछले दिनों बहुत चर्चा रही है।

मुझे एक कहानी याद आती है। दो आदमी एक झील के किनारे टहल रहे थे। उनमें यह बहस चल रही थी कि आस-पास के दृश्य को कौन ज्यादा बदल सकता है। उनमें से एक ने सामने से पड़ा हुआ पत्थर उठाया और झील में छोड़ दिया। बहुत जोर से पानी उछला, बड़ी बड़ी लहरें उठीं और फिर सब शान्त हो गया।

उसके बाद दूसरे आदमी ने सिर्फ इतना किया कि जेब से एक मुट्ठी बीज निकाले। उन्हें चारों ओर की नम जमीन में फेंक दिया और चुपचाप आगे चला गया। लेकिन दूसरे व्यक्ति के बोए पेड़ आज तक पथिकों को शीतलता प्रदान करते हैं।"

मार्क्सवादी कूपमण्डूकता

साहित्य जीवन को समझता है, उसका विश्लेषण करता है और उसकी समस्याओं का एक व्यापक समाधान प्रस्तुत करता है, या कम से कम इस दिशा में ईमानदार प्रयास अवश्य करता है। हम यह भी स्वीकार करते हैं कि मार्क्स ने जीवन और उसकी प्रगति को समझने के लिए एक नया और गम्भीर दृष्टिकोण दिया है और विश्व-दर्शन के इतिहास में मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का भी अपना महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन कम्यूनिस्टों की ग़लती यह है कि वे ऐसा स्वीकार करने लगते हैं कि मार्क्सवाद के अलावा जीवन और साहित्य की और कुछ कसौटी ही नहीं हो सकती और सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक का समस्त संचित मानव ज्ञान केवल मार्क्स के कुछ ग्रन्थों में ही सीमित है। कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो के प्रथम प्रकाशन को आज ठीक १०० वर्ष हो गए किन्तु आज भी कम्यूनिस्ट विचारक १०० वर्ष पहले की विचारधारा को साहित्य और जीवन पर ज्यों का त्यों लादने का आग्रह करते हैं। यह मनोवृत्ति एक स्वस्थ मनोवृत्ति न होकर उस पाण्डु रोग के रोगी की मनोवृत्ति है जो स्वयं सभी चीजों को पीला देखता है, सारी दुनिया को मजबूर करना

चाहता है कि वह भी पीले रंग के अलावा किसी और रंग में विश्वास ही न करे।

लेकिन इस तरह की कट्टरवादी मानसिक बीमारियाँ प्रगति के लिए सबसे ज्यादा घातक होती हैं क्योंकि वे मानव-ज्ञान के स्वच्छतम विकास की राह उन्मुक्त न कर उसमें बाधक ही होती है। यह मार्क्सवादी बीमारी भी कुछ इसी प्रकार की है और जैसे नया मुसलमान ज्यादा अल्ला अल्ला पुकारता है, उसी तरह हमारे देश के कम्यूनिस्ट आलोचकों में भी मार्क्सवाद की मौके बेमौके दुहाई देने की अनोखी आदत है। दिनोंदिन यह मार्क्सवादी दायरा इतना संकीर्ण होता जा रहा है कि अब उनमें डा० रामविलास शर्मा और उनके गुट के अलावा किसी और को भी स्थान मिल पायगा इसमें गम्भीर सन्देह है।

क्रान्ति के बाद रूस में भी इस तरह की मनोवृत्ति बहुत जोर पकड़ रही थी। १९३२ तक यही परिस्थिति रही लेकिन १९३२ के बाद कि परिस्थितियों ने कुछ ऐसा रुख अख्तियार किया रूस में कुछ व्यापक विचारों को भी प्रश्रय मिलने लगा। उसी समय एक प्रमुख रूसी विचारक ए० आई० स्टेट्स्की ने ५ जून १९३२ के प्रवदा में इस संकीर्ण मार्क्सवादी मनोवृत्ति के विरुद्ध बड़ा ही जोरदार लेख लिखा। उस लेख में इस बात का बड़ा ही दिलचस्प वर्णन था कि कैसे उस समय रूस के विभिन्न विचारकों और सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्लेग के चूहों की तरह मार्क्सवादी परिभाषाएँ फैल रही थीं। उसने लिखा "अभी हाल में मास्को के डाक्टरों की एक सभा में हमारे बहादुर कामरेड पैपोवियन ने एक लेख पढ़ा 'मार्क्सवाद और शल्य चिकित्सा' इस निबन्ध में न तो एक शब्द मार्क्सवाद पर ही था और न एक शब्द शल्य चिकित्सा पर।" (प्रवदा, जून ५, १९३१) उस समय कुछ लहर चल पड़ी थी और मार्क्सवाद को हर चीज पर लादने का हास्यास्पद प्रयास किया जा रहा था। 'द जर्नल फार

मार्क्सिस्ट लेनिनिस्ट नेचुरल साइन्सेज' का नारा था—'गणित में भी पार्टी के सिद्धान्तों का उपयोग होना चाहिए।' 'हम चिकित्सा शास्त्र में से बोर्जुआ तत्वों को बिना निकाले चैन नहीं लेंगे।' यह सनक इस सीमा तक पहुँच गई थी कि सोवियट हेराल्ड आफ वेनरालाजी एण्ड डर्मेटालाजी (चर्म तथा गुप्त रोगों पर सोवियट मुख पत्र) ने घोषित किया कि वे भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ही आधार पर इन यौन रोगों की चिकित्सा करेंगे। मार्क्सवाद को अपने सौ साल के जीवन में शायद इतना बड़ा सम्मान कभी न मिला होगा और न इतने पवित्र कार्य के लिए उसका उपयोग किया गया होगा।

ये विश्लेषण भी कभी-कभी कितने हास्यास्पद होते थे इसका एक उदाहरण स्टेट्स्की ने दिया है। उसने किसी पत्रिका के एक लेख का उद्धरण दिया है जिसमें लेखक ने मछलियों के व्यापार की पूरी द्वन्द्वात्मक भौतिक वादी व्याख्या करते हुए मछलियों की वृद्धि और विकास को भी वर्गसंघर्ष पर आधारित बताया है।

ये विश्लेषण कितने हास्यास्पद हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं। सारी दुनिया को वर्गसंघर्ष की सीमित कसौटी पर नापने के आग्रह को प्रगति नहीं कहा जा सकता। वह तो निरी कूपमण्डूकता है।

इस विषय में हमें लेनिन के ये शब्द याद रखने चाहिए—"मार्क्स के सिद्धान्तों को हमें कभी भी अपने में पूर्ण और किसी प्रकार के नए परिवर्तन से परे नहीं मानना चाहिए। उसने तो केवल वे आधारशिलाएँ रख दी हैं जिनके आधार पर साम्यवादियों को जीवन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विस्तृत निर्माण करना चाहिए। मेरा विचार है कि रूसी साम्यवादियों को विशेष तौर से मार्क्स के सिद्धान्तों पर स्वाधीन ढंग से कार्य करना चाहिए। क्योंकि मार्क्सवाद तो केवल एक सिद्धान्त मात्र देता है। वह सिद्धान्त रूस में दूसरे ढंग से लागू होगा। इंगलैण्ड में दूसरे ढंग से, फ्रान्स में दूसरे ढंग से, जर्मनी में

दूसरे ढंग से !" (लेनिन, रूसी संस्करण दूसरा भाग, पृष्ठ ४६२) ।

काश कि हमारे प्रगतिवादी बन्धु इसे ध्यान में रखकर भारतीय परिस्थितियों और ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ढलने का प्रयास करते !

सहायक पुस्तकें

स्टडीज़ इन डाइङ्ग कल्चर — क्रिस्टोफ़र काडवेल
नावेल एण्ड द पीपुल — रैल्फ़ फ़ाक्स
लिटरेचर एण्ड मार्क्सिज़्म — एंजेल्स ल्फोरेस
सोवियट लिटरेचर : एन एन्थालॉजी — रीवी एण्ड स्लोनिम
सोवियट लिटरेचर टुडे — जार्ज रीवी
माडर्न रशन एन्थालॉजी — यारमोलिन्स्की
ट्वेन्टीफाइव ईयर्स आफ़ रशन लिटरेचर — ग्लब स्ट्रव
लाइफ़ एण्ड लिटरेचर — मैक्सिम गोर्की
आई विल नाट रेस्ट — रोमा रोलाँ
रेलीजन इन यू० एस० एस० आर० — विल्फ्रेड ई० स्मिथ
सोवियट कम्यूनिज्म : ए न्यू सिविलिज़ेशन — बीएट्रिस एण्ड सिडने वेब
रशा एट वार — ईल्या एडरेनबुर्ग
मदर — मैक्सिम गोर्की
रेमिनिसेन्सेज आफ़ लेनिन — क्लारा जेटकिन
मायकावस्की एण्ड हिज पोएट्री — हरबर्ट मार्शल
सोशलिस्ट सिक्थ आफ़ द वर्ल्ड — डीन आफ़ कैन्टरबरी
मार्क्सिज्म एण्ड इण्डिविजुअल — डीन आफ़ कैन्टरबरी
रोल आफ़ इण्डिविजुअल इन हिस्ट्री — प्लेखनाव
मैटीरियलिस्ट कन्सेप्शन आफ हिस्ट्री — प्लेखनाव
कम्यूनिज्म : रेलीजन एण्ड मोरल्स — टी० ए० नैक्सन
टास्क आफ़ सोवियट राइटर — ज़्डैनव
गोल्डन बुक आफ़ टैगोर — रामानन्द चटर्जी
सोवियट राइटर्स रिप्लाई — एडगेल रिकवर्ड
समाज और साहित्य — अंचल
प्रगतिवाद — शिवदानसिंह चौहान

पत्रिकाएँ

सोवियट लिटरेचर

स्लावोनिक रिव्यू

न्यूयार्क टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट

हस

न्यू टाइम्स

रशन रिव्यू

माडर्न क्वार्टरली

प्राटिज़न रिव्यू

सोवियट यूनियन न्यूज़